अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मार्च २०२०

एकता में विभिन्नता

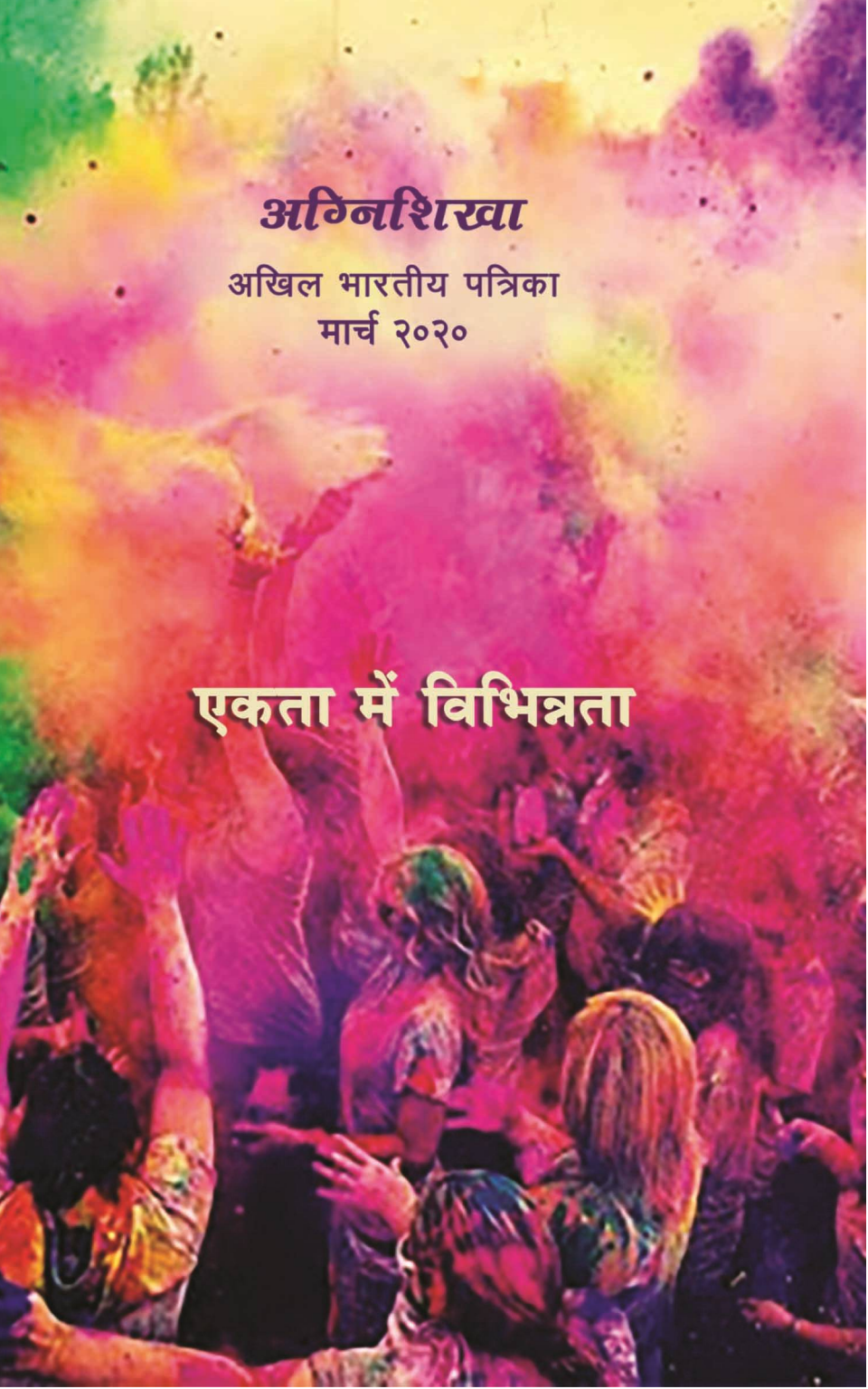

विषय-सूची

(श्रीमाँ के वचन)

एकता में विभिन्नता

प्रार्थना/सम्पादकीय	३
धरती की संगीत-गोष्ठी में अपना-अपना स्थान लो	५
अपनी चेतना को सर्वव्यापी बनाओ	७
"मैं तुम्हारा हूँ"	८
अव्यवस्था तथा विभेद को मिटाना	९
अपने अन्दर की एकता की खोज करना	१७
सामूहिक योग	२५
विश्व-एकता की ओर	३४
संसार एक इकाई है	३७
एकता के लिए सूत्र	३८

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४०
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४३
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन': ध्यान कैसे करें?	नवजातजी	४५
'योग के तत्त्व': कठिनाइयाँ तथा प्रगति (२)	श्रीअरविन्द	४९
पहुँचा पकड़ लेता है...	वन्दना	५२
फ़ॉर्म ४		५८
दो मुझे...! (कविता)	अज्ञात	(आवरण ३)

मुखपृष्ठ

रंगों का त्योहार होली एकता में विभिन्नता का प्रतीक है। कृष्ण भगवान् की कथा का उत्स होली ही है जिसमें 'प्रभु' अपने विविध रूप और रंग में प्रकृति के साथ होली खेलते रहते हैं।

प्रार्थना

आओ हम उन मार्गों से बचे रहें जो बहुत आसान हैं और जो प्रयास की माँग नहीं करते, वे मार्ग जो हमारे अन्दर यह भ्रम पैदा करते हैं कि हम लक्ष्य तक आ पहुँचे; हम उस लापरवाही से बचे रहें जो हर पतन के लिए दरवाज़ा खोल देती है, हम उस आत्मसन्तोषी आत्मश्लाघा का त्याग करें जो हमें रसातल की ओर ले जाती है। हमें यह समझना चाहिये कि हमारे प्रयास, हमारे संघर्ष और हमारी विजयें चाहे कितनी भी महान् क्यों न हों, अभी तक हमने चाहे जितना मार्ग तय किया हो, अभी जो मार्ग चलना है उसके आगे वह कुछ भी नहीं है और यह कि सभी समान हैं—शाश्वत के सम्मुख धूल के कण या समान रूप से दिव्य सितारे हैं।

परन्तु तू सभी विघ्न-बाधाओं का विजेता है, वह 'प्रकाश' है जो समस्त अज्ञान को प्रकाशित करता है, वह प्रेम है जो समस्त घमण्ड को जीत लेता है। और कोई भी भूल-भ्रान्ति तेरे आगे ठहर नहीं सकती।

८ जनवरी १९१४ —श्रीमाँ

सम्पादकीय : अगर युद्ध और लड़ाइयाँ वर्तमान वास्तविकताएँ हैं तो मानव-ऐक्य भावी अनिवार्यता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सारा संसार अपने अन्दर गहराई में एक गुप्त एकता ही है, जब कि बाहर हम भेद-भाव तथा पृथक्ता ही देखते हैं। यह विभेद भी महान् उद्देश्य का एक हिस्सा ही है। यह है 'विभिन्नता में एकता' की रचना। यही सृष्टि का महान् उद्देश्य है, अनन्त अभिव्यक्ति है जिसके आधार में एकता प्रतिष्ठित है। लेकिन जैसे लोभ-लालच, घृणा-द्वेष, भय इत्यादि के विरुद्ध हमारे अपने अन्दर ही भीषणतम लड़ाइयाँ मची रहती हैं वैसे ही, जब हम अपनी सत्ता को 'उनके' साथ एक कर लेते हैं तब 'ऐक्य' का रहस्य पा लेते हैं।

यह अंक 'विभिन्नता में एकता' विषय को समर्पित है।

तब एक दिन आयेगा जब यह धरा उसकी मधुरिमा का धाम बनेगी,
सकल विरोधी द्वन्द्व-भाव उसके सामञ्जस्य के रचनाकार होंगे;
हमारा ज्ञान उसी की दिशा बढ़ता है, हमारे भावावेश उसी को खोजते हैं;
उसकी अद्‌भुत आत्मरति में एक दिन हम बसेंगे,
तब उसका आलिंगन हमारी पीड़ा को आह्लाद में बदल देगा।
हमारी व्यक्तिसत्ता उसके माध्यम से समष्टि से एकात्म हो जायेगी।
'सावित्री', पृ. ३१४ *—श्रीअरविन्द*

धरती की संगीत-गोष्ठी में अपना-अपना स्थान लो

सामान्य लक्ष्य

जिस सामान्य लक्ष्य को हमें प्राप्त करना है वह है प्रगतिशील विश्वव्यापी सामञ्जस्य का आविर्भाव।

पृथ्वी के सम्बन्ध में इस उद्देश्य को सिद्ध करने का उपाय है, अन्तर में स्थित एकमेवाद्वितीय देवत्व को सबके अन्दर जाग्रत् करके तथा सबके द्वारा अभिव्यक्त करके मानव एकता प्राप्त करना।

दूसरे शब्दों में, हम सबके अन्दर विद्यमान ईश्वरीय साम्राज्य को स्थापित करके एकता की सृष्टि करना।

अतएव, करने-योग्य सबसे उपयोगी कार्य है :

(१) व्यक्तिगत रूप से, प्रत्येक मनुष्य के लिए—स्वयं अपने अन्दर भागवत उपस्थिति के विषय में सचेतन होना तथा उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना।

(२) सत्ता की उन स्थितियों को एक विशिष्ट रूप प्रदान करना जो अभी तक मनुष्य के अन्दर कभी जाग्रत् नहीं हुईं तथा, उसके द्वारा, विश्वशक्ति के अभी तक बन्द पड़े हुए एक या अनेक स्रोतों के साथ पृथ्वी का सम्पर्क करा देना।

(३) संसार को, उसकी वर्तमान मनोवृत्ति से मेल खाने वाले नये रूप में, शाश्वत वाणी फिर से सुनाना।

उसमें समस्त मानवीय ज्ञान का समन्वय होगा।

(४) सामूहिक रूप से, किसी अनुकूल स्थान में एक आदर्श समाज की स्थापना करना ताकि एक नवीन जाति, भगवान् के पुत्रों की जाति विकसित हो सके।

*

दो प्रक्रियाएँ

दो प्रक्रियाओं के द्वारा पार्थिव जीवन को रूपान्तरित तथा सामञ्जस्यपूर्ण बनाया जा सकता है और इन दोनों प्रक्रियाओं को, यद्यपि ये ऊपर से परस्पर-विरोधी दिखायी देंगी, एक साथ मिलना होगा—इन्हें एक-दूसरे पर

कार्य करना होगा और एक-दूसरे को पूर्ण बनाना होगा :

(१) व्यक्तिगत रूपान्तर, अर्थात्, एक आन्तरिक विकास जिसके द्वारा भागवत उपस्थिति के साथ एकत्व प्राप्त हो जाये।

(२) सामाजिक रूपान्तर, अर्थात्, अपने चारों ओर एक ऐसी सामाजिक अवस्था उत्पन्न करना जो व्यक्ति के खिलने और बढ़ने के लिए अनुकूल हो।

चूँकि सामाजिक अवस्था व्यक्ति पर प्रतिक्रिया करती है और दूसरी ओर सामाजिक अवस्था का मूल्य व्यक्ति पर निर्भर करता है, इसलिए ये दोनों काम साथ-साथ चलने चाहियें। परन्तु यह कार्य केवल श्रम-विभाजन के द्वारा ही हो सकेगा और इसके लिए एक संघ बनाने की आवश्यकता होगी जो, यदि सम्भव हो तो, क्रम-सोपान के अनुसार होगा।

त्रिविध कार्य

संघ के सदस्यों का कार्य त्रिविध होगा :

(१) जिस आदर्श को प्राप्त करना है उसे स्वयं अपने अन्दर सिद्ध करना; अचिन्त्य परम तत्त्व की समस्त स्थितियों, धर्मों और गुणों की प्रथम अभिव्यक्ति का सर्वांगपूर्ण पार्थिव प्रतिनिधि बनना।

(२) इस आदर्श का शब्दों के द्वारा, बल्कि, सबसे बढ़ कर अपने उदाहरण द्वारा प्रचार करना ताकि जो लोग अपना समय आने पर इसे सिद्ध करने तथा साथ ही मुक्ति का सन्देशवाहक बनने के लिए तैयार हों, उन्हें खोज निकाला जाये।

(३) एक प्रतिनिधि-समाज स्थापित करना अथवा जो पहले से मौजूद हों उनका पुनः संगठन करना।

द्विविध कार्य

प्रत्येक व्यक्ति के करने के लिए भी एक द्विविध कार्य है और उसके दोनों पहलुओं को एक साथ करना होगा तथा प्रत्येक पहलू दूसरे का सहायक और पूरक होगा :

(१) एक आन्तरिक विकास, अर्थात्, भागवत ज्योति के साथ बढ़ता हुआ एकत्व प्राप्त कर लेना—यही एकमात्र अवस्था है जिसमें मनुष्य वैश्व जीवन की महान् धारा के साथ सर्वदा सामञ्जस्य बनाये रख सकता है।

(२) कोई बाह्य कार्य करना, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं और व्यक्तिगत अभिरुचियों के अनुसार चुन लेना होगा। प्रत्येक व्यक्ति को इस विश्व की संगीत-गोष्ठी में अपना निजी स्थान खोज निकालना होगा जिसे केवल वही ले सकता है, और फिर उसी स्थान की पूर्ति में अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से यह न भूलते हुए लगा देना होगा कि वह इस पार्थिव सुरसंगति में केवल एक स्वर ही बजा रहा है, फिर भी सम्पूर्ण संगीत के सामञ्जस्य के लिए उसका स्वर अनिवार्य है, तथा उसका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितना ठीक-ठीक बजाता है।

'**श्रीमातृवाणी**' खण्ड २, पृ. ५७-५९

अपनी चेतना को सर्वव्यापी बनाओ

अज्ञान से पिण्ड छुड़ा लो, ज्ञान में प्रवेश करो।

सबसे पहले तुम्हें वह जानना चाहिये जो मैंने अभी बतलाया, कि तुम एक समग्र के भाग हो, कि यह समग्र एक और बड़े समग्र का भाग है, और यह बड़ा समग्र उससे अधिक बड़े समग्र का भाग है, यहाँ तक कि ये सब मिल कर एकमात्र समग्रता बनते हैं। एक बार तुम यह जान लो तो तुम्हें इस बात का भान होने लगता है कि वास्तव में तुम्हारे और तुमसे बड़े के बीच, जिसका तुम भाग हो, कोई पृथक्ता नहीं हो सकती। यह प्रारम्भ है। अब, तुम्हें केवल इसे सोचने के ही नहीं, बल्कि इसे अनुभव करने और इसे जीने के बिन्दु तक पहुँचना चाहिये और तब अज्ञान की दीवार ढह जाती है : तब व्यक्ति इस एकता का अनुभव हर जगह करता है और यह जान लेता है कि वह अपने से बहुत अधिक विशाल समग्र का, जो यह विश्व है, न्यूनाधिक रूप से एक आंशिक भाग है। तब वह अधिक वैश्व चेतना प्राप्त करने लगता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २६०

"मैं तुम्हारा हूँ"

अपने संकल्प को दृढ़ रखो। अपने उद्धत भागों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कहना न मानने वाले बालकों के साथ किया जाता है। उन पर लगातार और ध्यानपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें उनकी भूल का अहसास दिला दो।

तुम्हारी चेतना की गहराइयों में विराजमान है चैत्य पुरुष, तुम्हारे अन्दर स्थित भगवान् का मन्दिर। यही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर तुम्हारी सत्ता के इन सब विभिन्न भागों को, इन सब परस्पर-विरोधी गतियों को जाकर एक हो जाना चाहिये। तुम एक बार चैत्य पुरुष की चेतना को और अभीप्सा को पा लो तो इन सन्देहों और कठिनाइयों को नष्ट किया जा सकता है। इस काम में कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अन्त में तुम सफल अवश्य होओगे। तुमने एक बार भगवान् की ओर मुड़ कर कहा है: "मैं आपका होना चाहता हूँ," और भगवान् ने "हाँ" कह दिया है तो समस्त जगत् तुम्हें उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केन्द्रीय सत्ता ने समर्पण कर दिया है तो मुख्य कठिनाई दूर हो गयी। बाह्य सत्ता तो एक पपड़ी की तरह है। साधारण लोगों में यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अन्दर के भगवान् से सचेतन नहीं हो पाते। परन्तु यदि आन्तरपुरुष ने एक बार, क्षण-भर के लिए ही सही, यह कह दिया है: "मैं यहाँ हूँ और मैं तुम्हारा हूँ", तो मानो एक पुल बँध जाता है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जाती है और एक दिन आयेगा जब दोनों भाग पूर्ण रूप से जुड़ जायेंगे और आन्तर तथा बाह्य दोनों एक हो जायेंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९-१०

अगर तुम धरती पर शान्ति चाहते हो
तो पहले अपने हृदय में शान्ति स्थापित करो।
अगर तुम जगत् में ऐक्य चाहते हो
तो पहले स्वयं अपनी सत्ता के विभिन्न भागों को एक करो। —*श्रीमाँ*

अव्यवस्था तथा विभेद को मिटाना

सच्चा सामञ्जस्य केवल एक ही है

सच्चा सामञ्जस्य केवल एक ही है और वह है अतिमानसिक सामञ्जस्य —'सत्य' का साम्राज्य, 'भागवत विधान' की अभिव्यक्ति। इसलिए अतिमानस में संयोग का कोई स्थान नहीं। लेकिन निचली अथवा अपरा 'प्रकृति' में परम सत्य धुँधला जाता है और इस कारण उस उद्देश्य और कर्म की दिव्य एकता का अभाव हो जाता है जिससे सुव्यवस्था आती है। इस एकता के अभाव में अपरा प्रकृति के ऊपर उसका राज्य है जिसे हम संयोग कह सकते हैं—अर्थात्, यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ एक और सुनिश्चित लक्ष्य न रखने वाली प्रतिकूल शक्तियाँ आपस में मिलती हैं। इस प्रकार साथ-साथ दौड़-भाग करती हुई शक्तियों से जो पैदा होता है वह है अस्त-व्यस्तता, बेसुरेपन और मिथ्यात्व का परिणाम—संयोग की उपज। संयोग किसी चीज़ के कारण न जानने वाले हमारे अज्ञान को ढकने के लिए एक धारणामात्र नहीं है; यह निम्न प्रकृति के अनिश्चित-से संघर्ष का वर्णन है जिसमें भागवत 'सत्य' की शान्त एकाग्रता नहीं होती। जगत् अपने भागवत स्रोत को भूल गया है और अहंकार की शक्तियों की रणस्थली बन गया है; लेकिन अब भी उसके लिए यह सम्भव है कि वह 'सत्य' की ओर खुले, अपनी अभीप्सा के द्वारा उसे नीचे उतार लाये और संयोग के भँवर में परिवर्तन ला सके। अपने मानसिक संयोजनों, अनुभवों और सामान्य अनुमानों के कारण लोग जिसे घटनाओं का यान्त्रिक परिणाम मानते हैं वह वास्तव में विभिन्न सूक्ष्म शक्तियों की कारस्तानी होती है जिनमें से हर एक अपनी इच्छा पूरी करना चाहती है। जगत् इन अदिव्य शक्तियों के इतना अधीन हो गया है कि 'सत्य' के लिए युद्ध किये बिना 'सत्य' की विजय नहीं हो सकती। जगत् का विजय पर अधिकार नहीं है : उसे मिथ्यात्व और विकारों से नाता तोड़ कर इसे पाना होगा। इस विकृति का एक महत्त्वपूर्ण भाग यह सीधा-सादा मत है कि चूँकि अन्ततोगत्वा सभी चीज़ों का मूल स्रोत भगवान् हैं इसलिए उनकी सभी आसन्न क्रियाएँ भी सीधी भगवान् से ही आयी हैं। तथ्य यह है कि यहाँ, अपरा प्रकृति में, भगवान् एक वैश्व 'अविद्या' के परदे से ढके हुए हैं और यहाँ जो कुछ होता है वह सीधा भागवत ज्ञान से नहीं आता।

यह कहना कि सभी चीज़ें भगवान् की इच्छा से हैं उन विरोधी प्रभावों का बड़ा सुविधानुकूल सुझाव है जो चाहते हैं कि सृष्टि उसी कुरूपता और अव्यवस्था के साथ ज़ोर से चिपकी रहे जिनमें उसे पहुँचा दिया गया है। तुम पूछोगे कि फिर क्या किया जाये? सुनो, 'प्रकाश' का आवाहन करो और अपने-आपको 'रूपान्तर' की शक्ति के प्रति खोलो। अनगिनत बार तुम्हें शान्ति दी जा चुकी है और अनगिनत बार ही तुम उसे खो चुके हो —क्योंकि तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ अपनी अहंकारमयी तुच्छ नित्यचर्या को समर्पित करने से इन्कार करती है। अगर तुम सदा जागरूक न रहो तो ऊपर से आने वाले 'सत्य' से भर जाने के बाद भी तुम्हारी प्रकृति अपनी पुरानी अमार्जित आदतों की ओर वापस चली जायेगी। प्राचीन और नवीन का संघर्ष ही योग की मुख्य पहेली है; लेकिन अगर तुम अपने अन्दर प्रकट किये जाने वाले परम 'विधान' और 'व्यवस्था' के प्रति निष्ठावान् रहने के लिए कटिबद्ध हो तो धीरे-धीरे तुम्हारे वे भाग, जो संयोग के क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं, परिवर्तित होते जायेंगे और दिव्य बन जायेंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १७५-७६

पीछे हटो और सोचो

क्या तुम्हें सहज रूप से—बिना प्रयास के सहज रूप से—यह बोध हुआ है कि तुमने भूल की है? मैं यहाँ बाहरी प्रतिक्रिया की बात नहीं कह रही जो तुम्हें थप्पड़ मार कर अचानक जगाती है और तुम कह उठते हो: "आह! धिक्कार है, मैंने क्या कर डाला?" मैं उसकी बात नहीं कर रही। जब तुम एक चीज़ करते हो, एक चीज़ का अनुभव करते हो, जब तुम एक बात कहते हो—उन मामूली छोटे-मोटे झगड़ों को ही ले लो, जैसे (कम-से-कम) एक दर्जन रोज़ मुझे सुनाये जाते हैं (मुझे आश्चर्य है कि तर्क-बुद्धि के होते हुए कोई ऐसी चीज़ों के बारे में कैसे झगड़ सकता है), हाँ, तो उस समय तुम ऐसे शब्द कहते हो जो नहीं कहने चाहियें, जो बिलकुल मूर्खतापूर्ण होते हैं, क्या उस समय तुम देख सकते हो कि तुम सचमुच मूर्ख हो—इससे बदतर नहीं कह रही—सहज रूप में देख सकते हो? तुम हमेशा सफ़ाई देते हो। तुम्हें हमेशा यह लगता है कि ग़लती दूसरे व्यक्ति की है, और तुम ठीक हो और यह कि सचमुच, उससे कह देना

चाहिये कि वह ग़लत है, है न? वरना वह यह कभी न जान पायेगा! है न? मैं चीज़ को ज़रा ज़्यादा स्पष्ट करके रख रही हूँ, मानों वह एक छोटे-से सूक्ष्मदर्शी यन्त्र के सामने रखी हो ताकि वह कुछ बड़ी दिखायी दे। लेकिन बात है ऐसी ही। और जब तक चीज़ ऐसी है तब तक तुम सत्य चेतना से लाखों मील दूर हो। जब तक तुम तुरन्त, उसी क्षण पीछे न हट सको, अपने-आपको दूसरे की जगह पर रख कर यह न समझ सको कि उसे ऐसा क्यों लगता है, अपनी कमज़ोरी को न देख सको, दोनों की तुलना करके इस परिणाम पर न आ सको: "ओह! चीज़ ऐसी है, सच्ची बात यह है"—तो इसका मतलब यह है कि तुम अभी तक बहुत पीछे हो। जब तुम सहज भाव से तुरन्त यह कर सको, इसमें समय न लगे, यह एक स्वाभाविक गति हो, तब तुम सन्तुष्ट हो सकते हो कि तुमने थोड़ी-सी प्रगति की है...। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ५, पृ. ७०-७१

विवाद करने की बजाय समझो

अगर तुम कोई विवाद शुरू कर रहे हो तो तुरन्त चुप हो जाओ। तुम्हें बिलकुल चुप होना चाहिये, कुछ भी न बोलो, और तब चीज़ को उस तरह देखने की कोशिश करो जैसे दूसरा आदमी देखता है—इससे तुम देखने का अपना तरीक़ा न भूलोगे—बिलकुल नहीं! लेकिन तुम दोनों को एक साथ रख सकोगे और तुम वास्तव में प्रगति कर लोगे, वास्तविक प्रगति।

हर चीज़ के लिए यही बात है। जो कुछ तुम औरों के साथ मिल कर करते हो उसमें यदि तुम औरों के साथ सहमत नहीं हो तो इसे भगवान् की 'कृपा' मानो, प्रगति करने के लिए दिया गया एक अद्‌भुत अवसर मानो। और यह सरल है: इस ओर होने की जगह, तुम दूसरी ओर होओ; अपने-आपको देखने की जगह, तुम दूसरे व्यक्ति में प्रवेश करके देखो। तुम्हारे अन्दर थोड़ी-सी कल्पना होनी चाहिये, अपने विचारों और अपनी गतिविधियों पर ज़रा और नियन्त्रण होना चाहिये। परन्तु यह बहुत कठिन नहीं है। जब तुम इसका ज़रा परीक्षण कर लोगे तो थोड़ी देर बाद यह बहुत सरल हो जायेगा। तुम्हें केवल देख कर ही अपने-आपसे यह कहते हुए: "यह ऐसा क्यों है और वैसा क्यों है? वह ऐसा क्यों करता है? ऐसा क्यों कहता है?" कोई मानसिक प्रयास नहीं करना चाहिये। इससे तुम कभी

कुछ न पा सकोगे। तुम समझ न पाओगे, तुम सब प्रकार की सफ़ाइयों की कल्पनाएँ करोगे जो बेकार होंगी। तुम उनसे कुछ न सीखोगे, बस अपने-आपसे कहोगे : "वह व्यक्ति मूर्ख या दुष्ट है"— ऐसी बातें जिनका कोई लाभ नहीं। दूसरी ओर, अगर तुम यह छोटी-सी चेष्टा करो, उसे अपने से भिन्न, एक परायी वस्तु के रूप में देखने की जगह, तुम उसके अन्दर प्रवेश करने का यत्न करो, उसके अन्दर प्रवेश करो, उस छोटे-से सिर में जो तुम्हारे सामने है, और तब, अचानक, तुम अपने-आपको दूसरी ओर पाते हो, तुम अपने-आप पर दृष्टि डालते हो और बड़ी अच्छी तरह समझ जाते हो कि वह क्या कह रहा है — हर बात स्पष्ट है, उसका क्यों, कैसे, कारण और सारी चीज़ के पीछे की भावना...। यह एक ऐसा परीक्षण है जिसे करने के लिए दिन में सौ-सौ बार अवसर मिलते हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ५, पृ. २४४-४५

सहनशक्ति को बढ़ाओ

अगर लोग ज्ञान की सापेक्षता, श्रद्धा की सापेक्षता, शिक्षा की सापेक्षता और परिस्थितियों की सापेक्षता को जानते... यह जानते कि चीज़ किस हद तक सापेक्ष रूप में महत्त्वपूर्ण है तो दुनिया के बहुत सारे दुःख-कष्टऔर आपदाएँ लुप्त हो जातीं! तत्काल के लिए वह बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकती है, वह जीवन या मरण की ओर ले जा सकती है— मैं भौतिक जीवन-मरण की बात नहीं, आत्मा के जीवन-मरण की बात कह रही हूँ — लेकिन यह है उसी क्षण के लिए; और जब तुम अमुक प्रगति कर लो, जब तुम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कुछ वर्ष बड़े हो जाओ, और लौट कर इस चीज़ की ओर देखो, इस परिस्थिति या विचार को देखो जिसने शायद तुम्हारे जीवन का निर्णय किया था, तो वह इतनी सापेक्ष, इतनी नगण्य दीखेगी... और तुम्हें नयी प्रगति करने के लिए किसी बहुत अधिक ऊँची चीज़ की ज़रूरत पड़ेगी। अगर तुम इसे हमेशा याद रख सको, तो तुम बहुत-से मतवाद, बहुत-सी असहिष्णुता से बच सकोगे, और सभी झगड़ों को तुरन्त समाप्त कर सकोगे, क्योंकि झगड़े का अर्थ आख़िर यही तो है कि एक आदमी एक तरह से सोचता है और दूसरा दूसरी तरह से, कि एक ने एक वृत्ति अपनायी है, दूसरे ने दूसरी, और फिर उन्हें नज़दीक लाकर यह देखने की जगह कि

उनमें सामञ्जस्य कैसे पैदा किया जा सकता है, तुम उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देते हो, जैसे लोग घूँसेबाज़ी करते हैं। यह इसके सिवा और कुछ नहीं है।

लेकिन अगर तुम अपने दृष्टिकोण की, शुभ के बारे में अपने विश्वास की, अपने विचार की पूर्ण सापेक्षता को जान लो, यह जान लो कि वह सृष्टि के अभियान में किस हद तक सापेक्ष है, तो तुम अपनी प्रतिक्रियाओं में कम उग्र और अधिक सहिष्णु होओगे। तो बस।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ६, पृ. ४०५-०६

दूसरों को समझने की कोशिश करना

तुमने कभी यह जानने के लिए कि वहाँ क्या हो रहा है, किसी की चेतना में कभी प्रवेश करने का प्रयास नहीं किया? अपनी चेतना को दूसरे में प्रक्षिप्त करके नहीं, क्योंकि तब तुम अपने-आपको उसके अन्दर पाते हो और यह मज़ेदार नहीं होता — बल्कि उसके अन्दर की चेतना के साथ सम्बन्ध जोड़ कर; उदाहरण के लिए, ऐसे समय जब किसी कारण तुम किसी के साथ पूरी तरह सहमत नहीं होते; वह चीज़ को एक दृष्टि से देखता है और तुम किसी और दृष्टि से। अगर तुम समझदार हो तो झगड़ा नहीं करते, लेकिन अगर समझदार नहीं हो तो झगड़ने लग जाते हो। झगड़ने की जगह ज़्यादा अच्छा यह है कि तुम दूसरे की चेतना में प्रवेश करो और अपने-आपसे पूछो कि वह ऐसी बातें क्यों करता है, कौन-सी चीज़ उसे ऐसा कहने या करने के लिए बाधित करती है? आन्तरिक कारण क्या है, चीज़ों के बारे में उसकी क्या दृष्टि है जिसके कारण वह ऐसा मनोभाव अपनाता है? यह बहुत मज़ेदार है। अगर तुम यह करो तो तुम तुरन्त ग़ुस्सा करना बन्द कर दोगे। पहली चीज़ : तुम फिर ग़ुस्सा नहीं कर सकते। तो यह अपने-आपमें बहुत बड़ी प्राप्ति है, और यह भी, कि अगर दूसरा व्यक्ति नाराज़ बना रहे तो तुम पर उसका कोई असर नहीं होता।

उसके बाद, तुम ज़्यादा पूर्ण रूप से तादात्म्य के लिए प्रयास कर सकते हो और विभाजन और विकार की गतियों को रोक सकते हो और झगड़े बन्द कर सकते हो। यह बहुत उपयोगी है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ६, पृ. ४७७-७८

प्रचार की भावना

यदि तुम जगत्-सम्बन्धी धारणा पर आते हो कि यह भगवान् की सभी जटिलताओं के साथ उनकी अभिव्यक्ति है तो तुम्हें जटिलता और बहुविधता को स्वीकार करना ही होगा, और तब तुम्हारे लिए यह असम्भव हो जाता है कि तुम यह चाहो कि दूसरे भी ठीक तुम्हारी ही तरह सोचें और अनुभव करें।

प्रत्येक व्यक्ति का सोचने, अनुभव करने तथा प्रतिक्रिया करने का अपना निजी तरीक़ा होना ही चाहिये; तुम क्यों चाहते हो कि दूसरे वैसा ही करें जैसा कि तुम करते हो और तुम्हारे ही जैसे हों? और यदि हम यह मान भी लें कि तुम्हारा सत्य उनके सत्य से महत्तर है — यद्यपि यह शब्द एकदम कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि, एक विशेष दृष्टिकोण से सभी सत्य ठीक हैं; वे सभी आंशिक हैं पर वे ठीक हैं क्योंकि वे सत्य हैं, परन्तु जिस क्षण तुम चाहते हो कि तुम्हारा सत्य तुम्हारे पड़ोसी के सत्य से महत्तर हो, तुम सत्य से दूर होना आरम्भ कर देते हो।

तुम जैसे सोचते हो वैसे ही सोचने के लिए दूसरों को भी बाध्य करने की इच्छा रखने की यह आदत, मुझे सर्वदा बहुत विचित्र मालूम होती रही है; यही चीज़ है जिसे मैं "प्रचार की भावना" कहती हूँ और यह बहुत दूर तक जाती है। तुम एक पग आगे जा सकते हो और यह इच्छा कर सकते हो कि लोग वही करें जो तुम करते हो, वैसा ही अनुभव करें जैसा तुम अनुभव करते हो, और फिर वह चीज़ एक भयावह एकरूपता की ओर ले जाती है। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ८, पृ. १२७-२८

संसार एक आईना है

जब कोई बात दूसरे व्यक्ति के अन्दर तुम्हें एकदम अवाञ्छनीय या हास्यास्पद प्रतीत हो—जब तुम सोचो: "यह कैसी बात है! वह तो वैसा है, वह उस तरह का आचरण करता है, वह ऐसी बातें कहता है, वह ऐसा करता है"—तब तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये: "हाँ, हाँ, परन्तु मैं भी शायद बिना जाने वही चीज़ करता हूँ। अच्छा हो कि मैं दूसरे व्यक्ति की आलोचना करने से पहले सर्वप्रथम स्वयं अपने अन्दर दृष्टि डालूँ ताकि मैं निःसन्दिग्ध हो सकूँ कि मैं भी, बस थोड़े-से अन्तर के साथ, ठीक वही

चीज़ नहीं करता।" और, जब-जब तुम्हें दूसरे व्यक्ति के आचरण से धक्का लगे तब-तब यदि तुम इसे सामान्य बुद्धि और समझदारी के साथ कर सको तो तुम देखोगे कि जीवन में दूसरों के साथ का तुम्हारा सम्बन्ध मानों एक आईना है जो तुम्हारे सामने इसलिए रखा गया है कि तुम अधिक आसानी से और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से उस दुर्बलता को देख सको जिसे तुम अपने अन्दर लिये रहते हो।

साधारणतः, प्रायः पूर्ण रूप में, जिस चीज़ को दूसरों के अन्दर देख कर तुम्हें धक्का लगता है, वह ठीक वही चीज़ होती है जिसे तुम अपने अन्दर लिये रहते हो, वह थोड़ी-बहुत परदे के पीछे, थोड़ी-बहुत छिपी हुई, सम्भवतः थोड़ा-सा भिन्न आकार लिये रहती है जिससे तुम अपने विषय में भ्रम में रहते हो। जब तक वह तुम्हारे अन्दर है तब तक तो तुम्हें खटकने वाली नहीं प्रतीत होती, पर ज्यों ही तुम उसे दूसरों में देखते हो त्यों ही वह भयानक बन जाती है।

इसे अनुभव करने की कोशिश करो, यह चीज़ तुम्हें स्वयं अपने-आपको बदलने में बहुत, बहुत मदद देगी और साथ-ही-साथ, दूसरों के साथ तुम्हारे सम्बन्ध में तुम्हें एक हँसती हुई सहिष्णुता प्रदान करेगी, वह सदिच्छा प्रदान करेगी जो समझ से उत्पन्न होती है और वह बहुधा एकदम निरर्थक झगड़ों का अन्त कर देगी। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड १०, पृ. २७-२८

तुम झगड़ा किये बिना जी सकते हो

तुम झगड़ा किये बिना जी सकते हो। ऐसा कहना बड़ा विचित्र-सा लगता है, क्योंकि, वस्तुएँ अभी जैसी हैं, उनके कारण, इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जीवन झगड़ा करने के लिए ही बना है, इस अर्थ में कि एक साथ रहने वाले लोगों का मुख्य कार्य होता है, खुले तौर पर या गुप्त रूप से झगड़ा करना। तुम हमेशा शब्दों तक नहीं उतर आते, न —सौभाग्यवश—हाथापाई तक उतरते हो, पर तुम्हारे अन्दर निरन्तर क्षुब्धता की स्थिति बनी रहती है क्योंकि तुम अपने चारों ओर उस पूर्णता को नहीं पाते जिसे तुम स्वयं उपलब्ध करना चाहते हो—किन्तु जिसे उपलब्ध करना कठिन अनुभव करते हो—पर तुम इसे एकदम स्वाभाविक समझते हो कि दूसरों को उसे उपलब्ध कर लेना चाहिये।

"वे भला ऐसे कैसे हो सकते हैं?..." तुम यह भूल जाते हो कि "वैसा" नहीं बनने में तुम अपने अन्दर कितनी कठिनाई का अनुभव करते हो!

कोशिश करो और तुम देखोगे।

प्रत्येक वस्तु को सद्भावनाभरी मुस्कान के साथ देखो, जो चीज़ें तुम्हें उत्तेजित, नाराज़ करती हैं उन्हें अपने लिए एक प्रकार की शिक्षा के रूप में ग्रहण करो और तब तुम अधिक शान्ति के साथ और अधिक प्रभावशाली रूप में जीवन यापन करोगे, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य जिस पूर्णता को स्वयं उपलब्ध करना चाहता है उसे दूसरों में न पाने के कारण होने वाली नाराज़गी और उत्तेजना में अपनी शक्ति का अधिकांश व्यर्थ नष्ट कर देता है।

दूसरों को जो पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये वहाँ आकर तुम रुक जाते हो, और तुम बहुधा उस लक्ष्य के विषय में सचेतन नहीं होते जिसका अनुसरण स्वयं तुम्हें करना चाहिये। अगर तुम उसके विषय में सचेतन हो तो जो काम **तुम्हें** दिया गया है उसी से आरम्भ कर दो, अर्थात्, जो कुछ तुम्हें करना है उसे आरम्भ कर दो, दूसरे जो कुछ करते हैं उसमें व्यस्त हुए बिना, तुम्हें जो कुछ करना है उसे करो, क्योंकि, आख़िरकार, दूसरे जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं। और सच्चा मनोभाव ग्रहण करने का सबसे उत्तम उपाय है बस अपने-आपसे यह कहना: "मेरे इर्द-गिर्द जो भी हैं, मेरे जीवन की सारी परिस्थितियाँ, मेरे समीप जो हैं वे सभी वह आईना हैं जिसे दिव्य चेतना ने मेरे सम्मुख मुझे यह दिखाने के लिए रखा है कि मुझे कौन-कौन-सी प्रगति करनी चाहिये। जो कुछ मुझे दूसरों के अन्दर खटकता है वह वही कार्य है जिसे मुझे स्वयं अपने अन्दर करना है।"

और सम्भवतः कोई व्यक्ति यदि स्वयं अपने अन्दर कोई सच्ची पूर्णता वहन करे तो वह अक़्सर उसे दूसरों में भी देखेगा।

'**श्रीमातृवाणी**' खण्ड १०, पृ. २८-२९

जब तुम किसी ऐसी सम्मति को सुनते हो जो तुम्हें नापसन्द हो, फिर भी उसकी गहराई में जाकर उसमें निहित सत्य को ढूँढ़ो।

—श्रीमाँ

अपने अन्दर की एकता की खोज करना

पृथक् व्यक्तित्व का भ्रम

तुम्हें अपने अन्दर विद्यमान सर्जनशील सद्वस्तु को जानने के लिए अन्दर गहराई में, बहुध अधिक गहराई में पैठना होगा और अपनी सत्ता के शाश्वत मूल तत्त्व को ढूँढ़ निकालना होगा। और एक बार जब तुम उसे प्राप्त कर लोगे तो तुम समझ जाओगे कि दूसरे सभी लोगों में भी बस एकमात्र वही वस्तु विद्यमान है, और तब कहाँ है तुम्हारा पृथक् व्यक्तित्व? अब वहाँ कोई वस्तु नहीं रह गयी है।

हाँ, ये सब ध्वन्यांकित करने वाले और फिर से बजने वाले यन्त्र हैं और वहाँ हमेशा वे चीज़ें होती हैं जिन्हें हम विकृतियाँ कह सकते हैं—वे विकृतियाँ भले के लिए हो सकती हैं, वे विकृतियाँ बुरे के लिए हो सकती हैं, वे बहुत अधिक परिवर्तित हो सकती हैं; आन्तरिक संयोजन ऐसा होता है कि चीज़ें जब एक से दूसरे में जाती हैं तो वे ठीक-ठीक उसी रूप में नहीं दोहरायी जातीं क्योंकि यन्त्र बहुत जटिल होता है। परन्तु वह वही और समान ही चीज़ होती है जो एक सचेतन इच्छा द्वारा परिचालित होती है। और यह इच्छा सभी व्यक्तिगत इच्छाओं से एकदम स्वतन्त्र होती है।

जब बुद्ध ने अपने शिष्यों को ये बातें समझानी चाहीं तो उन्होंने उनसे कहा : जब-जब तुम कोई प्रकम्पन, उदाहरणार्थ, कोई कामना, किसी विशेष वस्तु की कामना प्रकट करते हो तो तुम्हारी कामना एक व्यक्ति से दूसरे में, विश्व-भर में एक से दूसरे में चक्कर लगाना आरम्भ कर देती है, और पूरा चक्कर लगा कर तुम्हारे पास वापस लौट आती है। और, चूँकि वह एकमात्र अकेली चीज़ नहीं होती बल्कि वस्तुओं का एक जगत् ही होता है, और चूँकि तुम एकमात्र प्रेषण-केन्द्र नहीं हो—सभी व्यक्ति प्रेषण-केन्द्र होते हैं—वहाँ एक ऐसी जटिलता उत्पन्न हो जाती है कि फिर तुम अपने-आपको पहचान नहीं पाते। परन्तु ये प्रकम्पन एक ही घेरे में, बिलकुल समान घेरे में चक्कर लगाते रहते हैं; केवल जटिलता और प्रकम्पनों को एक-दूसरे से काट देने से ही तुम्हारी धारणा बनती है कि वह (प्रकम्पन) कोई स्वतन्त्र या पृथक् वस्तु है।

परन्तु कोई भी चीज़ पृथक् या स्वतन्त्र नहीं है; **एक** अकेला 'पदार्थ'

है, **एक** अकेली 'शक्ति' है, **एक** अकेली 'चेतना' है, **एक** अकेली 'इच्छा' है जो सत्ता के अनगिनत पथों पर घूमती रहती है।

और यह सब इतना जटिल है कि मनुष्य इसे स्पष्ट रूप में नहीं देख पाता, पर कोई यदि एक पग पीछे हट आये और गतिविधियों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करे तो, चाहे वह गतिविधि की जिस किसी धारा का अनुसरण क्यों न करे, वह बहुत साफ़-साफ़ देखेगा कि प्रकम्पन, एक के बाद एक, एक के बाद एक बढ़ रहे हैं, और वहाँ वास्तव में केवल एक ही एकत्व है—'पदार्थ' का एकत्व, 'चेतना' का एकत्व, 'इच्छा' का एकत्व। और बस, एकमात्र वही है सत्य। बाहरी रूप में तो वह एक प्रकार का भ्रम है : पृथक्ता का भ्रम तथा विभेद का भ्रम।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ६३-६५

दूसरों के दुःख इत्यादि में तुम भी बह जाते हो

इसे समझ लेना बहुत कठिन नहीं है; जब मनुष्य बहुत छोटा होता है, जब वह बालक होता है तब भी, यदि वह ध्यान दे तो इसके विषय में अवगत हो सकता है। मनुष्य निरन्तर सामुदायिक सुझावों के बीच निवास करता है, निरन्तर; उदाहरण के लिए, मुझे नहीं मालूम कि तुम कभी किसी की अन्त्येष्टि के समय उपस्थित रहे हो या नहीं, अथवा किसी ऐसे घर में गये हो या नहीं जहाँ किसी की मृत्यु हुई हो—स्वाभाविक है कि तुम्हें अपने-आपको थोड़ा ध्यानपूर्वक देखना होगा, अन्यथा तुम कुछ नहीं पकड़ पाओगे—तुम यदि अपने-आपको थोड़ा ध्यान देकर देखो तो पाओगे कि उस व्यक्ति की मृत्यु के लिए किसी प्रकार का कोई दुःख या शोक अनुभव करने का तुम्हारे लिए कोई विशेष कारण नहीं है; वह तुम्हारे लिए ठीक दूसरे बहुत-से लोगों की तरह ही है; वह घटना घटी और किन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के वश तुम उस घर में आये हो। और वहाँ, एकाएक, बिना जाने कि क्यों या कैसे, तुम एक प्रबल भावावेग, महान् शोक, गहरा दर्द अनुभव करते हो और अपने-आपसे पूछते हो : "मैं इतना सन्तप्त क्यों हूँ?" इसका कारण मात्र वे प्रकम्पन हैं जो तुम्हारे अन्दर घुस गये हैं, दूसरी कोई चीज़ नहीं।

और मैं कहती हूँ कि इसका निरीक्षण करना आसान है, क्योंकि यह

एक अनुभव है जो मुझे उस समय हुआ था जब मैं एक छोटी-सी बच्ची थी—और उस समय मैं अभी ज्ञानपूर्वक योग नहीं करती थी; शायद मैं योग करती थी पर सचेतन रूप में नहीं—और मैंने इसे बहुत, बहुत स्पष्ट रूप में देखा; मैंने अपने-आपसे कहा : "निस्सन्देह, यह उनका दुःख-शोक है जिसे मैं अनुभव कर रही हूँ, क्योंकि इस व्यक्ति की मृत्यु से विशेष रूप से मेरे ऊपर प्रभाव पड़ने का कोई कारण नहीं है"; और एकाएक मेरी आँखों में आँसू आ गये—मैंने अनुभव किया कि मेरा गला रुँध गया, मैं रोना चाहती थी, मानों, मैं बहुत दुःखी थी—मैं बिलकुल बच्ची थी—और मैं तुरत समझ गयी : "ओह! निश्चय ही यह उनका दुःख-शोक है जो मेरे अन्दर आ गया है।"

बस, यही बात क्रोध के विषय में भी है। यह बहुत स्पष्ट है, मनुष्य इसे एकाएक ग्रहण करता है, यहाँ तक कि आवश्यक रूप से किसी व्यक्ति से भी नहीं : वातावरण से ही—वह वहाँ होता है—और फिर अचानक तुम्हारे अन्दर घुस आता है, और यह साधारणतया तुम्हें नीचे से पकड़ता है और फिर ऊपर आता है, और फिर तुम्हें धक्का देता है और इसलिए तुम भड़क उठते हो। एक क्षण पहले तुम क्रुद्ध नहीं थे, तुम एकदम आत्मसमाहित थे, क्रुद्ध हो उठने की तुम्हारी कोई मंशा नहीं थी। और यह चीज़ तुम्हें इतनी ज़ोर से पकड़ लेती है कि तुम उसे रोक नहीं सकते—क्योंकि तुम पर्याप्त रूप में सचेतन नहीं हो, तुम उसे अपने अन्दर घुस आने देते हो, और वह तुम्हारा उपयोग करती है। तुम... जिसे तुम "अपना स्व" कहते हो, अर्थात् तुम्हारा शरीर; क्योंकि बाह्य रूप में (मैं बाह्य रूप में कह रही हूँ) यह एक ऐसी चीज़ है जो तुम्हारे पड़ोसी के शरीर से पृथक् है। परन्तु यह केवल आँखों का भ्रम है, कारण, वास्तव में देखा जाये तो वहाँ निरन्तर ऐसी चीज़ें होती रहती हैं जिन्हें हम एक कण या अंश कह सकते हैं, यहाँ तक कि भौतिक कण कह सकते हैं, मानों एक तरह का फैलाव हो जो शरीर से बाहर निकल कर दूसरों में मिल-जुल जाता है; और इसी कारण, जब कोई बहुत संवेदनशील होता है, वह वस्तुओं को दूर से ही अनुभव कर सकता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ६५-६७

एकता समानता नहीं है

जहाँ तक प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक ही ढंग से बर्ताव करने की बात है, उसमें तो और भी बुरी उलझन है! यह उस तरह की उलझन है जिसे मनुष्य यह कह कर पैदा करता है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ भगवान् को एक ही ढंग से बर्ताव करना चाहिये। इसलिए संसार में अनेकता को होने देने का, एक समान दो व्यक्तियों को न होने देने का कष्ट उठाने का कोई मूल्य नहीं रहेगा; क्योंकि यह अनेकता के सिद्धान्त का ही एकदम खण्डन करता है।

संसार में जो कुछ है तुम उस सबके लिए मेल-जोल, एकता, प्रेम, पूर्ण करुणा का एक-सा ही गहरा मनोभाव रखने की अभीप्सा कर सकते हो—यदि तुम नहीं रखते तो रखना चाहिये; परन्तु यह मनोभाव भी प्रत्येक मामले में अलग-अलग तरीक़े से, उस मामले के सत्य तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त होगा। जिसे कर्म का प्रेरक हेतु अथवा मूल स्रोत कह सकते हैं वह एक ही होता है, पर प्रत्येक मामले और प्रत्येक मामले के गभीरतर सत्य के अनुसार वह कर्म सम्पूर्ण रूप में तथा नितान्त विपरीत भी हो सकता है। परन्तु ठीक इसी कारण, मनुष्य में उच्चतम, गभीरतम, अत्यन्त मौलिक रूप में सच्चा मनोभाव होना चाहिये, वह मनोभाव होना चाहिये जो सभी बाहरी सन्दिग्धताओं से मुक्त हो। तब मनुष्य प्रत्येक क्षण केवल मौलिक सत्य को ही नहीं, बल्कि कर्म के सत्य को भी देख सकेगा; और प्रत्येक मामले में यह भिन्न होता है। और फिर भी, जिसे हम "मनोवृत्ति" —यद्यपि यह एक अपर्याप्त शब्द है—अथवा चेतना की स्थिति कह सकते हैं जिसमें मनुष्य कार्य करता है, मूलतः वही होती है।

परन्तु यह बात तब तक समझ में नहीं आ सकती जब तक कि मनुष्य वस्तुओं की वास्तविक गहराई में नहीं प्रवेश करता तथा उन्हें उच्चतम शिखरों से नहीं देखता। और तब वह ज्योति और चेतना के एक केन्द्र के जैसा होता है जो इतना अधिक ऊँचा या इतना अधिक गहरा होता है कि एक ही समय में सभी वस्तुओं को, केवल उनके सार-तत्त्व में ही नहीं बल्कि उनकी अभिव्यक्ति में भी, देखा जा सकता है; और यद्यपि चेतना का केन्द्र एक ही है, पर कार्य उतना ही विभिन्न होगा जितनी विभिन्न अभिव्यक्ति होगी: यह भागवत सत्य की, उसकी अभिव्यक्ति के अन्दर, संसिद्धि होगी। अन्यथा यह

संसार के समस्त वैविध्य को दबा देना और उसे मूल अनभिव्यक्त 'एकत्व' के अन्दर वापस ले आना होगा, क्योंकि केवल अनभिव्यक्ति के अन्दर ही 'एकम्' के द्वारा 'एकम्' अभिव्यक्त होता है। परन्तु जैसे ही हम अभिव्यक्ति में प्रवेश करते हैं, 'एकम्' 'बहु' के रूप में व्यक्त होता है, और 'बहु' का अर्थ है, कर्मों और पद्धतियों का एक समवाय।

अतः, संक्षेप में, परिणामों की परवाह किये बिना चुनाव करना चाहिये, और अभिव्यक्ति के अन्दर प्रकट बहुविधता के सत्य के अनुसार कर्म का सम्पादन करना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४८५-८६

गुप्त एकता

मधुर माँ, यहाँ लिखा है : "सभी एक गुप्त 'एकता' के द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं।"

यह गुप्त 'एकता' क्या चीज़ है?

यथार्थ में यह दिव्य 'उपस्थिति' है।

चूँकि भगवान् मूलतः एक हैं और फिर भी उन्होंने ऊपर से देखने में सभी सत्ताओं के अन्दर अपने-आपको विभक्त कर दिया है, और इस प्रकार मूलभूत 'एकत्व' को पुनः स्थापित किया है। और वास्तव में इस दिव्य 'एकत्व' के कारण ही—जो, हालाँकि, सभी सत्ताओं में थोड़ा-थोड़ा दिखायी देता है—मूल रूप में 'ऐक्य' पुनः स्थापित हो गया है। और जब मनुष्य उस एकमेव के विषय में सचेतन होता है तो उसे इस 'एकत्व' की चेतना का हर्ष प्राप्त होता है। परन्तु जो लोग सचेतन नहीं होते वे चेतना के इस हर्ष से वञ्चित रहते हैं। परन्तु तथ्य वह का वही रहता है।

श्रीअरविन्द कहते हैं : 'एकत्व' विद्यमान है; चाहे तुम इस विषय से अभिज्ञ हो या न हो, वह है, उससे इस तथ्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु तुम्हारे लिए अन्तर पड़ता है : यदि तुम अभिज्ञ हो तो तुम्हें हर्ष प्राप्त होता है; यदि तुम अभिज्ञ नहीं हो तो तुम इस हर्ष से वञ्चित रहते हो।

परन्तु कोई यदि अचेतन है तो फिर वह यज्ञ कैसे कर सकता है?

वह (यज्ञ) अपने-आप होता है।

चाहे तुम इसे जानो या न जानो, चाहे तुम इसे चाहो या न चाहो, तुम सब भागवत 'उपस्थिति' के द्वारा संयुक्त हो, जो, यद्यपि ऊपर से देखने में खण्डित है, फिर भी 'एक' है। भगवान् 'एक' हैं, वे केवल वस्तुओं और सत्ताओं में खण्डित प्रतीत होते हैं। और चूँकि यह 'ऐक्य' एक तथ्य है, तो चाहे तुम इसके बारे में अवगत हो या नहीं, इससे इस तथ्य में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। और चाहे तुम इसे चाहो या नहीं, तुम समस्त वस्तुओं के बावजूद इस 'ऐक्य' के अधीन होते हो।

यही बात मैंने तुमलोगों को न मालूम कितनी बार समझायी है : तुम समझते हो कि तुम एक-दूसरे से पृथक् हो, परन्तु वही एक 'सत्-तत्त्व', बाह्य रूप में भिन्न दिखायी पड़ने के बावजूद, सबके अन्दर विद्यमान है; और एक केन्द्र में उत्पन्न होने वाला एक प्रकम्पन अपने-आप दूसरे में भी प्रकम्पन जगा देता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ९१-९२

शायद भगवान् अपने-आपको वास्तव में जानना चाहते थे

अगर तुम भगवान् को अपने अन्दर न लिये होते, अपनी सत्ता के सार-तत्त्व में न लिये होते, तो तुम्हें कभी भगवान् का भान न होता; यह एक असम्भव अभियान होता। और फिर अगर तुम समस्या को उलट दो, जिस क्षण तुम यह कल्पना करते हो और किसी-न-किसी तरह अनुभव करते हो, या, प्रारम्भ में, इतना मान भी लेते हो कि भगवान् तुम्हारे अन्दर हैं और साथ ही तुम भगवान् के अन्दर हो, उसी क्षण उपलब्धि का दरवाज़ा खुल जाता है, ज़रा-सा, बहुत नहीं—बस, थोड़ा-सा। उसके बाद यदि अभीप्सा आती है, जानने और होने की तीव्र आवश्यकता अनुभव होती है, तो वह तीव्र आवश्यकता खुले भाग को चौड़ा कर देती है, यहाँ तक कि तुम उसमें रेंग कर जा सकते हो। जब तुम उसमें घुस जाओ तो तुम्हें पता लगता है कि तुम क्या हो। और श्रीअरविन्द ठीक यही कहते हैं कि व्यक्ति भूल गया है, कि सत्, चित्, आनन्द के अलगाव के कारण विस्मृति आती है, तुम क्या हो उसकी विस्मृति; व्यक्ति मान लेता है कि वह कोई है, है न, कोई भी, लड़का, लड़की, पुरुष, स्त्री, कुत्ता, घोड़ा, कोई भी चीज़, पत्थर, समुद्र,

सूर्य, कुछ भी; यह सोचने की जगह कि मैं भगवान् हूँ, वह अपने-आपको यह सब मान लेता है—क्योंकि, वस्तुतः, अगर हम अपने-आपको एकमेव भगवान् ही मानते रहते तो विश्व बिलकुल होता ही नहीं।

मैं उससे *(एक बालक की ओर संकेत करके)* यही कहना चाहती थी, कि अलगाव का यह तथ्य विश्व के होने के लिए अनिवार्य मालूम होता है, अन्यथा वह हमेशा वैसा ही बना रहता जैसा था। लेकिन अगर हम इस मोड़ में से गुज़र चुकने के बाद, फिर से एकता स्थापित करें, विभिन्नता, विभाजन से लाभ उठाने के बाद, फिर से एकता स्थापित करें, तो हमें एक उच्चतर गुण की एकता प्राप्त होगी, वह एक ऐसी एकता होगी जो अपने-आपको जानती होगी, यह उस एकता की जगह होगी जो अपने-आपको नहीं जान सकती क्योंकि वहाँ ऐसी कोई और चीज़ है ही नहीं जो दूसरी को जान सके। जब 'एकता' निरपेक्ष हो, तो 'एकमेव' को जान ही कौन सकता है? वह क्या है यह समझने के लिए हमारे पास कम-से-कम कोई ऐसा बिम्ब या आभास तो होना ही चाहिये जो वह नहीं है। मेरा ख़याल है कि विश्व का रहस्य यही है। शायद भगवान् अपने-आपको वास्तव में जानना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने-आपको प्रक्षिप्त किया और फिर अपने-आपको देखा, और अब वे अपने पूर्ण ज्ञान के साथ स्वयं अपने होने की सम्भावना का आनन्द लेना चाहते हैं। यह बहुत ज़्यादा मज़ेदार हो जाता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २६३-६४

आन्तरिक अव्यवस्था और अस्त-व्यस्तता के लिए एक उपचार

हम विस्तृततम दृष्टि के साथ भी चीज़ों को नहीं जान सकते; हम चीज़ों को बहुत ही आंशिक रूप में — **बहुत ही** आंशिक रूप में जान सकते हैं। इसलिए हमारा ध्यान इस ओर, उस ओर खिंचता रहता है, और इनके अतिरिक्त और बहुत-सी चीज़ें रहती हैं। भयानक और हानिकर चीज़ों को बहुत महत्त्व देकर तुम केवल उनकी शक्ति ही बढ़ाते हो।

जब इस प्रकार की अव्यवस्था और अस्त-व्यस्तता की कल्पनाएँ तुम पर टूट पड़ें तो तुम्हें एक ही चीज़ करनी चाहिये, उस चेतना में प्रवेश कर जाओ जहाँ तुम केवल *एक* ही 'सत्ता', *एक* 'चेतना', *एक* ही 'शक्ति' को देखते हो—केवल एक ही 'इकाई' है—और यह सब उसी 'इकाई' में हो

रहा है। और हमारे सभी नगण्य अन्तर्दर्शन, हमारे ज्ञान, हमारे मूल्यांकन और... ये सब कुछ नहीं हैं, सबकी अधिष्ठात्री 'चेतना' की तुलना में ये बहुत ही छोटे, अणु के समान हैं। इसलिए, अगर तुम्हारे अन्दर इन विभिन्न सत्ताओं के अस्तित्व के कारण का ज़रा-सा भी ज्ञान हो तो तुम देखोगे कि यह अभीप्सा को सम्भव बनाने के लिए, अभीप्सा की सत्ता को बनाये रखने के लिए है, आत्म-निवेदन और आत्म-दान की गति को, विश्वास और श्रद्धा को सम्भव बनाने के लिए है। ठीक यही वह कारण है जिसके लिए व्यक्ति बनाये गये थे; और फिर पूरी सच्चाई के साथ, पूरी तीव्रता के साथ वह बनना... बस यही वह सब है जिसकी आवश्यकता है।

यही एक चीज़ है जिसकी ज़रूरत है, यही **एकमात्र** चीज़ है, यही एकमात्र चीज़ है जो टिकती है; बाक़ी सब... माया-जाल, मृग-मरीचिका है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. १९५-९६

हमेशा भगवान् की उपस्थिति में ही निवास करो; इस अनुभूति में रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रिया को गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपने सभी क्रिया-कलापों को इसी को समर्पित कर दो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओं को भी; उदाहरणार्थ, भोजन भी उसी को अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में तुम्हारे द्वारा भगवान् ही भोजन कर रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियों को एक 'अखण्ड जीवन' में एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अन्दर भेदभाव की जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृति का एक भाग तो भगवान् को समर्पित हो और बाक़ी भाग अपनी साधारण वृत्तियों में पड़े रहें और साधारण चीज़ों में लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को भगवान् अपने हाथ में ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृति का सम्पूर्ण रूपान्तर होने लगेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २८

सामूहिक योग

दोहरी क्रिया की आवश्यकता

... यदि हम उदाहरण के तौर पर धार्मिक समाज को लें तो—वास्तव में, उसका प्रतीक जो चीज़ें हैं वे हैं मठ की इमारत, एक-से वस्त्र, समान क्रिया-कलाप, यहाँ तक कि गतिविधि में भी एकरूपता—मैं इसे और अधिक स्पष्ट करके कहती हूँ : सबका परिधान एक-सा होता है, सब एक समय पर उठते, एक-सा खाना खाते, एक-सी प्रार्थना करते हैं इत्यादि-इत्यादि, वहाँ एक सामान्य एकरूपता होती है, पर स्वभावतः अन्दर चेतनाओं की बड़ी विषमता होती है, प्रत्येक अपने ही ढंग से चलता है, क्योंकि यह समानता, जो लगभग विश्वास और मत की अभिन्नता तक पहुँच जाती है, बिलकुल भ्रामक समानता है।

यह मानव-समूह का अत्यन्त प्रचलित प्रकार है : लोग किसी समान आदर्श, समान कर्म, समान उपलब्धि के चारों ओर एकत्रित, संयुक्त, सम्मिलित होते हैं, पर होते हैं बिलकुल कृत्रिम ढंग से। इसके विपरीत, श्रीअरविन्द हमें बतलाते हैं कि एक सच्चा समाज—जिसे वे विज्ञानमय या अतिमानसिक समाज कहते हैं—केवल प्रत्येक सदस्य की आन्तरिक उपलब्धि के आधार पर ही टिक सकता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य समाज के अन्य सभी सदस्यों के साथ अपनी सच्ची और यथार्थ एकता व समानता महसूस करने लगे, अर्थात्, प्रत्येक को यह महसूस होना चाहिये कि वह मात्र एक सदस्य नहीं है जो जिस किसी तरह औरों से जुड़ा हुआ है, बल्कि सब एक में हैं, उसी में हैं। प्रत्येक के लिए दूसरे सब इतने अधिक अपने होने चाहियें जितना उसका अपना शरीर, और वह भी मानसिक या कृत्रिम तौर से नहीं, बल्कि चेतना में, आन्तरिक उपलब्धि के द्वारा।

इसका मतलब है कि इस विज्ञानमय समाज को चरितार्थ करने की आशा करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को पहले विज्ञानमयी सत्ता बनना चाहिये—या कम-से-कम बनना शुरू कर देना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है; व्यक्तिगत कार्य आगे-आगे चलना चाहिये और सामूहिक कार्य उसके पीछे-पीछे; परन्तु होता ऐसा है कि स्वतः ही, या यूँ कहें, संकल्प के मनमाने हस्तक्षेप के बिना ही, व्यक्तिगत प्रगति सामाजिक स्थिति द्वारा नियन्त्रित या

शिथिल हो जाती है। व्यक्ति और समूह के बीच एक ऐसी परस्पर-निर्भरता होती है जिससे कोशिश करके भी अपने-आपको पूरी तरह मुक्त नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि वह व्यक्ति भी, जो अपने योग में चेतना की पार्थिव और मानवीय स्थिति से अपने-आपको पूरी तरह मुक्त करने की कोशिश कर रहा है, समूचे जन-समूह के साथ, कम-से-कम अपनी अवचेतना में, बँधा रहता है, जो उस पर लगाम या रोक लगाती है, यहाँ तक कि सचमुच पीछे की ओर **खींचती** भी है। व्यक्ति बहुत तेज़ी से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर सकता है, आसक्ति और उत्तरदायित्व के सारे बोझ को उतार फेंकने के लिए प्रयत्न कर सकता है, पर सब कुछ के बावजूद, उपलब्धि, उस व्यक्ति की भी उपलब्धि जो शिखर तक पहुँच गया है और विकास-पथ पर सबसे आगे है, समष्टि की उपलब्धि पर, पृथ्वी पर मानव-समूह की अवस्था पर निर्भर करती है। और यह चीज़ निश्चय ही पीछे की ओर **खींचती** है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो जो चीज़ उपलब्ध करनी है उसे पाने के लिए पृथ्वी के तैयार होने की शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

यही कारण है कि श्रीअरविन्द ने भी, किसी और जगह, यह कहा है कि दोहरी क्रिया की आवश्यकता है, और यह कि व्यक्तिगत प्रगति और उपलब्धि के लिए किये जाने वाले प्रयत्न में, सारे समाज को ऊपर उठाने के प्रयत्न व उपक्रम को भी मिला देना चाहिये, ताकि वह उस प्रगति को साधित कर सके जो व्यक्ति की महत्तर प्रगति के लिए अनिवार्य है: कहा जा सकता है कि यह सामूहिक प्रगति व्यक्ति को एक और क़दम आगे बढ़ाने का अवसर देगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. १५५-५७

कठिनाई को जीतना ज़रूरी है

श्रीमाँ 'योग-समन्वय' में से "आत्म-निवेदन" अध्याय से पढ़ती हैं:

"बहुधा उसे (साधक को) पता लगता है कि अध्यवसाय के साथ अपना निजी युद्ध जीत लेने पर भी, उसे बार-बार जीतना पड़ता है...।"

क्या इसका मतलब है कि और लोग उसकी साधना से लाभ उठाते हैं?

हर एक के लिए ऐसा ही है, समझे।

अगर केवल एक ही होता, तो ऐसा हो सकता था कि वह अकेला ही सबके लिए कर लेता; लेकिन अगर हर एक करे... तुम समझ रहे हो...

तुम पचास व्यक्ति पूर्णयोग कर रहे हो। अगर पचास में से एक ही कर रहा हो, तो पचास के लिए एक करता है। लेकिन अगर पचास में से हर एक यह कर रहा हो, तो हर एक पूरे पचास के लिए करता है, तो वास्तव में वह केवल एक व्यक्ति के लिए ही करता है, क्योंकि सभी सबके लिए करते हैं।

लेकिन काम बहुत लम्बा चलता है?

तुम्हें अपने-आपको विस्तृत करना चाहिये।

काम ज़्यादा जटिल है, ज़्यादा पूर्ण है, वह अधिक शक्ति, अधिक विस्तार, अधिक धैर्य, अधिक उदारता, अधिक सहनशीलता की माँग करता है; ये सभी चीज़ें ज़रूरी हैं। लेकिन वस्तुतः, अगर हर एक पूरी तरह से वह करे जो उसे करना चाहिये, तो फिर एक ही व्यक्ति सारी चीज़ नहीं करता: एक अकेला व्यक्ति सबके लिए नहीं करता, बल्कि अब सब मिल कर एक व्यक्ति बन जाते हैं और सारे दल के लिए करते हैं।

जो लोग यह कर रहे हैं उनमें एक प्रकार का पर्याप्त एकत्व आ जाना चाहिये, ताकि उन्हें भेद का अनुभव न हो। वास्तव में, उसे करने का यही आदर्श तरीक़ा है कि वे एक अनन्य शरीर बन जायें, एक अनन्य व्यक्ति बन जायें, हर एक, एक साथ ही अपने लिए और बिना भेद-भाव के औरों के लिए भी काम करे।

सच कहा जाये तो जब मैं श्रीअरविन्द से मिली थी तो मेरे अन्दर यही पहला प्रश्न उठा था। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें यह बतला चुकी हूँ; अब मुझे याद नहीं है, लेकिन इसके बारे में मैंने हाल में ही कहा था। क्या हमें अपना योग करते हुए लक्ष्य तक जा पहुँचना चाहिये और बाद में औरों के साथ काम को हाथ में लेना चाहिये या हमें तुरन्त समान अभीप्सावालों को अपने पास आने देना चाहिये और सबको साथ मिल कर लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिये?

अपने पहले कार्य के कारण, और मैंने जो कुछ प्रयत्न किया था उसके कारण, मैं श्रीअरविन्द के पास सुनिश्चित प्रश्न लेकर आयी थी। क्योंकि दो सम्भावनाएँ थीं : एक तो यह कि जगत् से अलग होकर तीव्र व्यक्तिगत साधना की जाये, अर्थात्, औरों के साथ कोई सम्बन्ध न रखा जाये या फिर स्वाभाविक और सहज रूप से संगठन बनने दिया जाये, उसे बनने से रोका न जाये, उसे बनने दिया जाये, और सब मिल कर पथ पर चलें।

हाँ तो, वह निर्णय मानसिक चुनाव बिलकुल न था; वह सहज रूप से आया। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि चुनाव था ही नहीं; यानी, बिलकुल स्वाभाविक और सहज रूप से संगठन इस तरह बन गया कि वह एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी। एक बार इस तरह शुरू हो जाये, तो बस ख़तम, हमें इसी तरह अन्त तक जाना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४४९-५०

तुम सबके लिए योग करते हो

व्यक्ति अकेला, निःसंग अपनी पूर्णता तक पहुँच सकता है। वह अपनी चेतना में अनन्त और पूर्ण बन सकता है। लेकिन जब कार्य का प्रश्न आता है, तो वह हमेशा सीमित रहता है।

मुझे नहीं मालूम कि तुम मेरी बात अच्छी तरह समझ रहे हो या नहीं, लेकिन व्यक्तिगत सिद्धि की कोई सीमा नहीं होती। तुम आन्तरिक रूप से, अपने अन्दर पूर्ण और अनन्त बन सकते हो। लेकिन बाह्य सिद्धि आवश्यक रूप से सीमित रहती है, और अगर तुम व्यापक क्रिया चाहते हो तो कम-से-कम भौतिक सत्ताओं की न्यूनतम संख्या तो ज़रूरी है ही।

एक बहुत पुरानी परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि बारह काफ़ी हैं; लेकिन आधुनिक जीवन की जटिलताओं में यह सम्भव नहीं मालूम होता। एक प्रतिनिधि-संगठन होना चाहिये। जिसका मतलब है... तुम उसके बारे में कुछ नहीं जानते या तुम उसकी अच्छी तरह कल्पना नहीं करते, लेकिन तुममें से हर एक उन मुश्किलों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है जिन्हें रूपान्तर के लिए जीतना ज़रूरी है। और यह बहुत मुश्किलें पैदा करता है! *(माताजी हँसती हैं)*, मैंने कहीं लिखा है... मैंने कहा है कि कठिनाई से भी बढ़ कर हर एक किसी असम्भवता का प्रतिनिधि है जिसका

समाधान करना ही है। और इन सब असम्भवताओं की पूरी मण्डली दिव्य 'कर्म', दिव्य 'उपलब्धि' में रूपान्तरित हो सकती है। हर व्यक्ति एक ऐसी असम्भवता है जिसे सुलझाना है, और जब इन सारी असम्भवताओं का समाधान हो जाये तभी दिव्य 'कर्म' चरितार्थ होगा।

लेकिन अब मैं ज़्यादा सदय हूँ। मैंने "असम्भवता" को हटा दिया है और उसकी जगह "कठिनाई" रख दिया है। शायद अब वे असम्भवताएँ नहीं रहीं।

लेकिन, शुरू से ही, अब और भी ज़्यादा, जब कि हमारा दल काफ़ी बढ़ चुका है, हर बार जब कोई मुझसे कहने आता है: "मैं **अपने** योग के लिए आया हूँ" तो मैं कह देती हूँ: "नहीं, नहीं। तब मत आओ। और जगहों की अपेक्षा यहाँ यह बहुत ज़्यादा कठिन है।" और कारण वही है जो श्रीअरविन्द ने यहाँ लिखा है।

अगर कोई मुझसे यह कहने आये: "मैं काम करने आया हूँ, मैं अपने-आपको उपयोगी बनाने आया हूँ" तो ठीक है। लेकिन अगर कोई आये और कहे: "बाहर मेरे आगे बहुत कठिनाइयाँ हैं, मैं इन कठिनाइयों को पार नहीं कर पाता, मैं यहाँ आना चाहता हूँ क्योंकि इससे मुझे सहायता मिलेगी", तो मैं कहती हूँ: "नहीं, नहीं, यहाँ यह **कहीं** अधिक कठिन होगा; तुम्हारी कठिनाइयाँ **बहुत अधिक** बढ़ जायेंगी।" इसका यही अर्थ होता है, क्योंकि तब अलग, इक्की-दुक्की कठिनाइयाँ नहीं रहतीं; वे सामूहिक कठिनाइयाँ होती हैं।

तो तुम्हारी अपनी निजी कठिनाई के अतिरिक्त तुम सभी रगड़-झगड़, सभी सम्पर्क, सभी प्रतिक्रियाएँ, वे सब चीज़ें पाते हो जो बाहर से आती हैं। कसौटी के रूप में। ठीक कमज़ोर बिन्दु पर, जिस चीज़ को हल करना सबसे कठिन है; वहीं पर तुम किसी से ऐसी बात सुनोगे जिसे तुम हर्गिज़ न सुनना चाहते थे, कोई तुम्हारी ओर ऐसा संकेत करेगा जो ठीक तुम्हें धक्का पहुँचाने वाला होगा; तुम अपने-आपको ऐसी परिस्थिति, ऐसी गतिधारा, ऐसे तथ्य, ऐसी चीज़ के सामने पाओगे, वह कुछ भी क्यों न हो, ठीक ऐसी चीज़ के सामने जो... "ओह, मैं कितना अधिक चाहता था कि यह न हो!" और ठीक वही चीज़ होगी। और अधिकाधिक होगी। क्योंकि तुम अपना योग केवल अपने लिए नहीं करते। तुम सबके लिए

योग करते हो—बिना चाहे—यन्त्रवत् करते हो।

तो जब लोग आकर मुझसे कहते हैं : "मैं यहाँ शान्ति, स्थिरता, आराम के लिए, अपना योग करने के लिए आया हूँ," तो मैं कहती हूँ : "नहीं, नहीं, नहीं! तुरन्त कहीं अन्यत्र चले जाओ, यहाँ की अपेक्षा किसी भी जगह तुम ज़्यादा शान्त रहोगे।" **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ७, पृ. ४५१-५३

आश्रम में सामूहिक जीवन

मानव जीवन में सभी कठिनाइयों, सभी विसंगतियों, सभी नैतिक कष्टों का कारण होता है हर एक के अन्दर उपस्थित अहंकार और उसके साथ उसकी कामनाएँ, उसकी रुचियाँ और अरुचियाँ। निःस्वार्थ काम में भी, जिसमें दूसरों की सहायता करनी होती है, जब तक तुम अहं और उसकी माँगों पर विजय पाना न सीख लो, जब तक तुम उसे चुपचाप और शान्त रह कर एक कोने में बैठने के लिए बाधित न कर सको, अहंकार हर उस चीज़ के विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है जो उसे पसन्द नहीं आती, एक आन्तरिक तूफ़ान खड़ा कर देता है जो सतह पर आता है और सारा काम बिगाड़ देता है।

अहंकार पर विजय पाने का यह काम लम्बा, धीमा और कठिन है; यह सतत चौकसी और निरन्तर प्रयास की माँग करता है। यह प्रयास कुछ लोगों के लिए ज़्यादा सरल होता है और कुछ लोगों के लिए ज़्यादा कठिन।

हम यहाँ आश्रम में यह काम मिल कर श्रीअरविन्द के ज्ञान और उनकी शक्ति की सहायता से करने के लिए हैं; हम इस कोशिश में हैं कि एक ऐसा संघ बनायें जो ज़्यादा सामञ्जस्यपूर्ण, ज़्यादा ऐक्यपूर्ण और परिणामस्वरूप, जीवन में ज़्यादा सार्थक हो।

जब तक मैं भौतिक रूप से तुम सबके साथ रहती थी, मेरी उपस्थिति ही तुम्हें अहंकार पर यह प्रभुता पाने में सहायता देती थी और इसलिए मुझे व्यक्तिगत रूप से इस विषय में प्रायः बोलने की ज़रूरत न होती थी।

परन्तु अब यह प्रयास हर व्यक्ति के जीवन का आधार होना चाहिये, विशेष रूप से तुममें से उन लोगों के लिए जो ज़िम्मेदार पदों पर हैं और जिन्हें औरों की देखभाल करनी होती है। नेताओं को हमेशा उदाहरण रखना चाहिये, जो लोग उनकी देख-रेख में हैं उनसे वे जिन गुणों की माँग

करते हैं स्वयं उन्हें उन गुणों को आचरण में लाना चाहिये; उन्हें समझदार, धीर, सहनशील, सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये, उनमें ऊष्मा और मैत्रीपूर्ण सद्भावना होनी चाहिये, लेकिन अपने लिए मित्र जुटाने की अहंकारपूर्ण वृत्ति से नहीं, बल्कि उदारता के द्वारा, ताकि वे औरों को समझ सकें और उनकी सहायता कर सकें।

सच्चा नेता होने के लिए अपने-आपको, अपनी रुचियों और पसन्दों को भूल जाना अनिवार्य है।

मैं अब तुमसे इसी की माँग कर रही हूँ ताकि तुम अपनी ज़िम्मेदारियों को उस तरह निभा सको जैसे निभाना चाहिये। और तब तुम अनुभव करोगी कि जहाँ तुम अव्यवस्था और अनैक्य देखती थीं, वे ग़ायब हो गये हैं और उनकी जगह सामञ्जस्य, शान्ति और आनन्द ने ले ली है।

तुम जानती हो कि मैं तुमसे प्रेम करती हूँ और मैं तुम्हें सहारा देने, तुम्हारी सहायता करने और रास्ता दिखाने के लिए हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३८५-८६

स्वतन्त्रतता तथा सामुदायिक जीवन

जब व्यक्ति समाज में रहता है, तो क्या उसके लिए अक़्सर अपनी इच्छा द्वारा प्रयुक्त नियमों को मानने के स्थान पर दूसरों द्वारा लागू नियमों को मानना आवश्यक नहीं हो जाता?

स्पष्ट ही, यदि व्यक्ति समाज में रहना चाहे या रहने को सम्मत हो तो उसे समाज के नियम मानने ही होंगे, अन्यथा व्यक्ति अव्यवस्था और गड़बड़झाले का कारण बन जाता है।

किन्तु जो अनुशासन स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है वह उच्चतर चेतना के आन्तरिक विकास और प्रगति के लिए हानिकारक नहीं हो सकता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २९७-९८

जगत् की सहायता करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है—
*अपने-आपको **सर्वांगीण** और **एकाग्र** योग द्वारा रूपान्तरित करना।*

—श्रीमाँ

जब धरती पर दिव्य विधान अपना स्थान पायेगा

जब प्राणिक इच्छा-शक्ति मानसिक शक्ति के अधीन हो तो व्यक्ति या समाज का जीवन नैतिक हो जाता है। लेकिन जब प्राणिक इच्छा और मानसिक शक्ति दोनों, समान रूप से एक अधिक ऊँची चीज़, अतिमानस के अधीन हों, केवल तभी मानव जीवन को पार किया जा सकता है और सच्चे आध्यात्मिक जीवन का, अतिमानव के जीवन का आरम्भ होता है। उसका विधान अन्दर से आयेगा, वह दिव्य विधान होगा जो हर सत्ता के केन्द्र में चमकता हुआ वहीं से जीवन पर शासन करेगा। यह दिव्य विधान अपनी अभिव्यक्ति में तो बहुविध होता है लेकिन अपने मूल में एक ही रहता है और इस एकता के कारण ही वह चरम व्यवस्था और सामञ्जस्य का विधान है।

इस भाँति व्यक्ति, जो अहंकार-भरे हेतुओं, विधि-विधानों, रीति-रिवाजों से प्रेरित न होगा, सभी अहंकार-भरे लक्ष्यों को त्याग देगा। पूर्ण अनासक्ति ही उसका नियम होगा। इहलोक में या परलोक में व्यक्तिगत लाभ पाने के लिए कार्य करना उसके लिए कल्पनातीत और असम्भव होगा। उसका हर एक कर्म प्रेरणा देने वाले दिव्य विधान की आज्ञानुसार पूर्ण, सरल और आनन्दमय आज्ञापालन होगा जिसमें परिणामों या पुरस्कारों की माँग न होगी, क्योंकि उस प्रेरणा के अनुसार कार्य करना, स्वयं अन्तर-स्थित भागवत तत्त्व के साथ चेतना और संकल्प में ऐक्य प्राप्त करने का आनन्द प्राप्त करना ही अपने-आपमें परम पुरस्कार होगा।

और इस तादात्म्य में ही अतिमानव अपना सामाजिक स्तर पायेगा। क्योंकि वह अपने अन्दर दिव्य विधान को पाकर, उसी दिव्य विधान को हर एक सत्ता के अन्दर देख सकेगा और अपने अन्दर उसके साथ तादात्म्य पाकर औरों के अन्दर भी उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करेगा, और इस प्रकार केवल तत्त्व या सार रूप में ही नहीं, जीवन के अत्यन्त बाहरी स्तरों और रूपों में भी, सबकी एकता का भान प्राप्त कर लेगा। वह कोई मन, प्राण या शरीर न होकर उन्हें अनुप्राणित करने और सहारा देने वाली नीरव, शान्त और शाश्वत आत्मा होगा जो इन सब पर शासन करती है; और वह देखेगा कि यही आत्मा हर जगह, सभी मन, प्राण, शरीरों को अनुप्राणित करती और सहारा देती है। वह इस 'आत्मा' को भागवत स्रष्टा

और सभी कर्मों के कर्ता के रूप में जानेगा जो सभी सत्ताओं में मौजूद है; क्योंकि वैश्व अभिव्यक्ति की अनेक आत्माएँ एक ही भगवान् के अनेक चेहरे हैं। वह हर एक सत्ता को इस रूप में देखेगा मानों वही वैश्व भागवत सत्ता उसके सम्मुख विभिन्न रूपों में आ रही है। वह अपने-आपको उस 'एक सत्ता' में मिला देगा और स्वयं अपने मन, प्राण और शरीर को उसी 'आत्मा' के पहलुओं के रूप में लेगा और आज वे सब, जिन्हें हम अपने से अलग मानते हैं, वे उसकी चेतना के लिए विभिन्न मन, प्राण और शरीरों में उसके स्व के ही रूप होंगे। वह सबके शरीरों में अपने शरीर को एक अनुभव कर सकेगा, क्योंकि उसे सारे पदार्थ की एकता का सतत भान होगा; वह सभी सत्ताओं के मन और प्राण के साथ अपने-आपको एक कर लेगा। संक्षेप में कहें तो वह औरों में अपने-आपको और अपने अन्दर औरों को देखेगा और अनुभव करेगा। इस प्रकार ऐक्य की पूर्णता में सच्ची एकात्मता की उपलब्धि करेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १८५-८७

एकरूपता के द्वारा एकता नहीं प्राप्त की जाती।

कार्यक्रमों और पद्धतियों की एकरूपता के द्वारा शिक्षा की एकता नहीं पायी जा सकती।

एकता, प्रश्न की माँग के अनुसार, मौन या प्रकट रूप से केन्द्रीय आदर्श, केन्द्रीय शक्ति या ज्योति, हमारे शिक्षा के उद्देश्य या लक्ष्य के साथ सतत सम्पर्क द्वारा ही आ सकती है।

सत्य और परम 'एकता' अपने-आपको विविधता के द्वारा ही प्रकट करती है। मानसिक तर्क ही अभिन्नता की माँग करता है। व्यवहार में, हर एक को अपनी ही पद्धति—जिसे वह समझता और अनुभव करता है—खोजनी और काम में लानी होगी। केवल इसी तरह शिक्षा प्रभावकारी हो सकती है।

'श्रीमातृवाणी', *खण्ड १२, पृ. १८७-८८*

विश्व-एकता की ओर

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में निष्कपटता की आवश्यकता

यह सोचना छोड़ दो कि तुम पश्चिम के हो और दूसरे पूर्व के। सभी मनुष्य एक ही दिव्य कुल के हैं और धरती पर हम इस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए हैं।

*

धरती स्थायी और सजीव शान्ति तभी पायेगी जब मनुष्य यह समझ लेंगे कि उन्हें अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सच्चा और निष्कपट होना चाहिये।

सरकारों के लिए ईमानदारी केवल इसी में नहीं है कि वे जो करती हैं वही कहें, बल्कि वही करें भी जो वे कहती हैं।

*

अगर कूटनीति छल-कपट और मिथ्यात्व पर आधारित होने की जगह दिव्य सत्य और भागवत कृपा का यन्त्र बन जाये तो यह मानव एकता और सामञ्जस्य की ओर एक बड़ा क़दम होगा।

*

धरती पर सच्ची और स्थायी शान्ति केवल मानव एकता की चेतना की वृद्धि और प्रतिष्ठा के द्वारा ही चरितार्थ हो सकती है। इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले सभी साधनों का स्वागत है यद्यपि बाहरी साधनों का बहुत ही सीमित प्रभाव होता है, फिर भी, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, अत्यावश्यक और अनिवार्य है स्वयं मानव चेतना का रूपान्तर, उसके कार्य-कलाप का प्रबुद्ध और रूपान्तरित होना।

इस बीच कुछ बाहरी क़दम उपयोगी रूप में उठाये जा सकते हैं। दोहरी राष्ट्रीयता की स्वीकृति उनमें से एक है। इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति हमेशा यही रही है कि उन लोगों की कैसी विकट स्थिति होगी जिन्होंने दोहरी राष्ट्रीयता अपना ली है, और जिन देशों की राष्ट्रीयता अपनायी है उनमें यदि युद्ध छिड़ जाये।

लेकिन जो लोग सच्चाई के साथ शान्ति चाहते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि युद्ध के बारे में सोचना, युद्ध की बात करना, युद्ध का पहले

से ही अनुमान लगाना उसके लिए द्वार खोलना है। इसके विपरीत, युद्ध के उन्मूलन में जितने अधिक लोगों को सक्रिय रस होगा, स्थायी शान्ति के अवसर उतने ही प्रभावकारी होंगे। यह तब तक रहेगा जब तक मनुष्य में नयी चेतना का आगमन युद्ध को असम्भव न बना दे।

*

समस्त संकीर्णता, स्वार्थपरता, सीमाबन्धन को झाड़ फेंको और मानव एकता की चेतना के प्रति जागो। शान्ति और सामञ्जस्य पाने का यही एकमात्र रास्ता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ६४-६५

विविधता के अन्दर एकत्व

"आध्यात्मिक जीवन सबमें विद्यमान एक सारतत्त्व को प्रदर्शित करता है, पर उसकी अनन्त विभिन्नता को भी प्रदर्शित करता है; वह एकता में विविधता के लिए और फिर उस विविधता में पूर्णता लाने के लिए प्रयत्न करता है।" ('प्रश्न और उत्तर १९२९', ४ अगस्त)

विश्व के सृजन का बस यही यथार्थ उद्देश्य है, अर्थात्, सब एक हैं, सब अपने मूल में एक हैं, पर प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक सत्ता का यह दैवनिर्दिष्ट कार्य यानी यह 'मिशन' है कि वह अपने सम्मुख इस एकत्व के एक भाग को प्रकट करे, और यही विशेषता है जिसे प्रत्येक के अन्दर विकसित होना चाहिये, और इसके साथ-ही-साथ मूल एकत्व का बोध भी जाग्रत् होना चाहिये। यही है "विविधता के अन्दर एकत्व की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना।" और इस विविधता में पूर्णता तभी आ सकती है जब प्रत्येक पूर्ण रूप से वही बन जायेगा जो उसे बनना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३८६

श्रीअरविन्द कहते हैं, "तुम्हें अपने निजी शिखर पर पहुँचना होगा।" क्या शिखर प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही होता है अथवा प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना विशिष्ट शिखर होता है?

अन्तिम विश्लेषण करने पर, वह सर्वदा एक ही शिखर होता है—दिव्य एकत्व जो सभी वस्तुओं के पीछे विद्यमान है—परन्तु हर एक अपने निजी शिखर पर पहुँचेगा, अर्थात्, अपनी निजी प्रकृति द्वारा और दिव्य एकत्व को अभिव्यक्त करने के अपने निजी तरीक़े से पहुँचेगा। यही बात है जिसे हम उस दिन कह रहे थे : प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के साथ सम्बन्ध रखने तथा भगवान् को अभिव्यक्त करने की एक विशेष पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है। तुम्हें दूसरे के मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं होती! तुम्हें अपने निजी मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिये और इसी मार्ग से तुम शिखर पर पहुँच जाओगे जो 'एक' है, पर तुम पहुँचोगे अपने निजी रास्ते से। परम लक्ष्य शिखरों से परे है—वह लक्ष्य एक ही है और शिखरों से परे है—परन्तु प्रत्येक मनुष्य इस शिखर को अपने निजी पथ से, अपने निजी पर्वत पर चढ़ कर प्राप्त करेगा, न कि दूसरे के पर्वत पर चढ़ कर।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४१९

धरती का भविष्य चेतना के परिवर्तन पर निर्भर है।

भविष्य के लिए एकमात्र आशा है व्यक्ति की चेतना में परिवर्तन, और परिवर्तन अवश्यम्भावी है।

लेकिन यह निश्चय मनुष्यों के हाथ में छोड़ा गया है कि वे इस परिवर्तन के लिए सहयोग दें या इसे उन पर कुचलती हुई परिस्थितियों की शक्ति द्वारा आरोपित किया जाये।

तो, जागो और सहयोग दो! आशीर्वाद।

*

श्रीअरविन्द के शब्दों में हम "भागवत मुहूर्त" में जी रहे हैं और सारे संसार के रूपान्तरकारी विकास ने एक तेज़ और तीव्र गति अपना ली है।

*

निश्चय ही हम ऐसे काल में नहीं जी रहे जब मनुष्यों को उनके अपने साधनों पर छोड़ दिया गया हो।

भगवान् ने उन्हें प्रबुद्ध करने के लिए अपनी चेतना को नीचे भेजा है।

जो भी उससे लाभ उठा सकते हों उन्हें लाभ उठाना चाहिये।

—श्रीमाँ

संसार एक इकाई है

भगवान् का जगत् बृहत्तर इकाई के ऊपर गम्भीरतापूर्वक प्रयास करने से पहले अपेक्षाकृत छोटी इकाई को परिपूर्ण बनाते हुए एक-एक पग आगे बढ़ता है। यदि तू कभी सम्पूर्ण संसार को एक राष्ट्र का रूप देना चाहे तो सबसे पहले स्वतन्त्र राष्ट्रीयता को स्थापित कर।

एक ही रक्त, एक ही भाषा या एक ही धर्म से कोई राष्ट्र नहीं बनता; ये सब केवल महत्त्वपूर्ण सहायक और शक्तिशाली सुविधाएँ हैं। परन्तु जहाँ कहीं पारिवारिक बन्धनों से रहित मनुष्यों के समाज एक ही भाव और अभीप्सा रख कर अपने पूर्वजों से प्राप्त एक ही उत्तराधिकार की रक्षा करने के लिए या अपनी सन्तति के लिए एक जैसे भविष्य को प्रतिष्ठित करने के लिए ऐक्यबद्ध होते हैं वहाँ, समझ लेना चाहिये कि, एक राष्ट्र का अस्तित्व पहले से ही विद्यमान है।

राष्ट्रीयता परिवार की अवस्था से परे जाने वाले प्रगतिशील भगवान् का एक पदक्षेप है; अतएव एक राष्ट्र के उत्पन्न होने से पहले कुल और जाति की आसक्ति को दुर्बल और नष्ट होना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३५७-५८

संसार एक इकाई है। वह हमेशा इकाई रहा है और अब भी है। इस समय भी है। ऐसी बात नहीं है कि उसमें एकता नहीं है और उसे कहीं बाहर से लाना और उस पर आरोपित करना होगा।

केवल, संसार अपनी एकता के बारे में सचेतन नहीं है। उसे सचेतन बनाना है।

हम समझते हैं कि इस प्रयास के लिए यह समय सबसे अधिक शुभ है।

क्योंकि, तुम इस तत्त्व को जो चाहो कह लो, एक नयी 'शक्ति' या 'चेतना' या 'ज्योति' संसार में अभिव्यक्त हुई है और अब संसार में अपनी एकता के बारे में सचेतन होने की क्षमता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ६८

एकता के लिए सूत्र

मुझे अपने पड़ोसी से प्यार करना चाहिये, पर इसलिए नहीं कि वह हमारे पड़ोस में रहता है—क्योंकि आख़िर पड़ोस में और दूर में क्या रखा है? और न इसलिए कि धर्म मुझे यह सिखाते हैं कि वह मेरा भाई है—क्योंकि उस भ्रातृत्व की जड़ कहाँ है? बल्कि इसलिए कि वह स्वयं मेरी आत्मा है। पड़ोस और दूरी शरीर को प्रभावित करते हैं पर हृदय उनसे परे चला जाता है। भ्रातृत्व रक्त का, देश का, धर्म का या मानवता का होता है, पर जब स्वार्थ अपनी परिपूर्ति के लिए मचलता है, तब इस भ्रातृत्व का क्या हाल होता है? जब मनुष्य भगवान् में निवास करता है और अपने मन, हृदय और शरीर को उनकी विश्वव्यापी एकता की प्रतिमूर्ति में बदल देता है केवल तभी उस गभीर, निःस्वार्थ एवं दुर्धर्ष प्रेम को पाना सम्भव होता है।

एकता तथा परस्पर प्रेम के लिए दिये गये सभी मानवीय कारणों का मूल्य कम होता है और उनका प्रभाव भी कम ही होता है। भगवान् के प्रति सचेतन होकर, उनके साथ तादात्म्य साध कर ही सच्चा 'ऐक्य' सम्भव हो सकता है। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १०, पृ. ४०७

जब तू अपने शत्रु पर आघात करता हो तब भी उसके अन्दर विद्यमान भगवान् से प्यार कर; इस तरह दोनों में से कोई भी नरक का भागीदार न होगा।

मनुष्य शत्रुओं की बात करते हैं पर, कहाँ हैं वे? मैं तो केवल विश्व के विशाल अखाड़े में किसी एक या दूसरे पक्ष के पहलवानों को ही देखता हूँ।

यह सब मानवजाति को अपनी एकता के प्रति जगाने के उद्देश्य से लिखा गया है। जब व्यक्ति इस एकता के प्रति सचेतन हो जाता है तथा सभी व्यक्तियों में भगवान् को देखता है तब उस वस्तु को अनुभव करना सरल हो जाता है जिसकी श्रीअरविन्द सलाह दे रहे हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३२४

चेतना के विभाजन का आरम्भ होता है ऐक्य के, अपने ऐक्य के बारे में सचेतन होने में, ताकि वह अपने **ऐक्य** में विविधता के बारे में सचेतन हो सके। और तब यही मार्ग अपने खण्डों के कारण हमारे लिए देश और काल में अनूदित होता है। हमारे लिए, जैसे हम हैं, यह सम्भव है कि इस 'चेतना' का हर बिन्दु अपने बारे में सचेतन हो *और* साथ ही अपने मूलगत 'ऐक्य' के बारे में सचेतन हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २११

सामुदायिक जीवन में अनुशासन आवश्यक है ताकि कमज़ोर बलवान् द्वारा सताये न जायें; और जो लोग उस समुदाय में रहना चाहते हैं उन सभी को इस अनुशासन का मान करना चाहिये।

किन्तु यह अनुशासन उनके द्वारा लागू होना चाहिये जो बहुत उदारमना हों, यदि सम्भव हो तो ऐसे व्यक्ति या ऐसे व्यक्तियों के द्वारा जो 'भागवत उपस्थिति' के प्रति सचेतन और समर्पित हों, ताकि संघ सुखी रह सके।

यह शक्ति उन्हीं के हाथों में होनी चाहिये जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचेतन हैं, ताकि धरती प्रसन्न रहे। पर अभी तो यह असम्भव है, क्योंकि जो 'भागवत इच्छा' के प्रति **सचमुच** सचेतन हैं उनकी संख्या नगण्य है, और चूँकि उनमें ऐसी कोई महत्त्वाकांक्षा भी नहीं है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४१३-१४

भाषा की समस्या भारत को काफ़ी तंग करती है। इस मामले में हमारा उचित मनोभाव क्या होना चाहिये?

एकता एक जीवित तथ्य होना चाहिये, मनमाने नियमों के द्वारा आरोपित वस्तु नहीं। जब भारत एक होगा, तो सहज रूप से उसकी एक भाषा होगी जिसे सब समझ सकेंगे।

... 'सत्य' संघर्ष और विरोध से ऊपर है।

सभी देश प्रगति और उपलब्धि के लिए मिले-जुले प्रयास करते हुए 'सत्य' के अन्दर आ मिलते हैं। —श्रीमाँ

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मार्च

१. हमेशा श्रीमाँ का स्मरण करो, उन्हें पुकारो, तब कठिनाइयाँ चली जायेंगी। कठिनाइयों से डरो मत, परेशान मत होओ। अनवरत श्रीमाँ को पुकारो। —श्रीअरविन्द

२. इस बात की गाँठ बाँध लो कि श्रीमाँ के ऊपर पूर्ण विश्वास के साथ आगे बढ़ो तो चाहे जैसी परिस्थिति और कठिनाई हो, चाहे जितना समय लगे, तुम निश्चित रूप से लक्ष्य तक पहुँच पाओगे, कोई बाधा, विलम्ब या विपरीत स्थिति अन्तिम सफलता को बिगाड़ न पायेगी। —श्रीअरविन्द

३. ध्यान का यही विधान है : निश्चल-नीरव बैठ जाओ, श्रीमाँ का स्मरण करो और अपने-आपको उनकी ओर खोलो। —श्रीअरविन्द

४. इस संकट-काल में जब अहम् आपस में टकरा रहे हैं और अपने-आपको दृढ़ता से बनाये रखने में लगे हुए हैं, सुरक्षा केवल 'तेरी' शरण में ही पायी जा सकती है।

५. प्रत्येक से बार-बार कहना चाहिये—अपने अहम् का उन्मूलन कर दो और तुम्हारे अन्दर शान्ति का राज्य प्रतिष्ठित हो जायेगा।

६. हम जैसे प्रार्थना करते हैं उसी तरह कार्य करें, क्योंकि वास्तव में कार्य शरीर की भगवान् के प्रति सबसे अच्छी प्रार्थना है।

७. जिसे तुम आज नहीं कर पाये उसे कल चरितार्थ कर पाओगे; डटे रहो, विजय होगी।

८. तुम्हारा यह मनोभाव रहना चाहिये, "मैं अभीप्सा करता हूँ, अपनी अपूर्णताओं से मुक्त होने की कोशिश करता हूँ, मैं अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करता हूँ, लेकिन परिणाम के लिए मैं अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के हाथों में सौंप देता हूँ।"

९. अगर तुम पूरी तरह निष्कपट-सच्चे नहीं हो, केवल दूसरों के साथ नहीं बल्कि अपने साथ भी, अगर तुम अपनी अपूर्णताओं और कमज़ोरियों को ढँकने का प्रयास करते हो तो तुम कभी प्रगति न कर पाओगे,

सारे जीवन वह-के-वही बने रहोगे।

१०. प्रत्येक को आन्तरिक प्रगति करनी होगी तभी बाह्य तकलीफ़ें ग़ायब या नगण्य हो सकेंगी।

११. बुढ़ापे से बचने का उत्तम उपाय यही है कि प्रगति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया जाये।

१२. अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाये तो बहुत सारी कठिनाइयों का समाधान मिल जायेगा।

१३. ध्यान करके तुम प्रगति कर सकते हो, लेकिन कार्य के द्वारा, अगर उसे सच्चे भाव से किया जाये, तुम दसगुनी प्रगति करोगे।

१४. यह समझना आसान है कि जो अपने अन्दर या अपने चारों ओर शान्ति और सद्भावना लिये रहता है वह एक तरीक़े से दूसरों पर अपनी शान्ति और सद्भावना का कुछ भाव तो आरोपित कर ही देगा, जब कि घृणा, चिड़चिड़ाहट और क्रोध औरों में इसी तरह की गतिविधियाँ जगायेंगे।

१५. अपना अवलोकन करना अच्छा है ताकि तुम अपनी कमज़ोरियाँ देख सको और उन्हें सुधारने-लायक बन सको।

१६. साहसी, सहनशील और जागरूक बनो: और सबसे बढ़ कर, पूरी ईमानदारी के साथ सच्चे बनो।
तब तुम सभी कठिनाइयों का सामना कर सकोगे और विजय तुम्हारी होगी।

१७. सभी अच्छे और सौजन्यपूर्ण कार्य ज्योति, विश्रान्ति और आनन्द प्रदान करते हैं—ऐसा सूर्यालोक ले आते हैं जिसमें फूल खिलते हैं।

१८. जो कुछ भी होता है, हमें पाठ सिखाने के लिए होता है।
जब तक हम अपने अहंकार से छुटकारा नहीं पा लेते तब तक शान्ति नहीं हो सकती; न हमारे लिए, न औरों के लिए।

१९. साहसी बनो और अपने बारे में अधिक न सोचो। तुम दुःखी और असन्तुष्ट इसलिए रहते हो क्योंकि तुम अपने छोटे-से अहंकार को अपनी तन्मयता का केन्द्र बना लेते हो।

२०. तुम्हें शान्ति को अधिकाधिक अपने अन्दर बुलाना चाहिये और उसे अपने शरीर के कोषाणुओं में प्रविष्ट होने देना चाहिये। तब अनाड़ीपन

के सुझावों का कोई असर न होगा।

२१. चिन्ता न करो, बस अपने अन्दर सदा चीज़ों को अच्छी तरह करने का संकल्प रखो।

आशा ही सुखद भविष्य का निर्माण करती है।

२२. दूसरों के दोषों को, उन्होंने क्या किया है और क्या नहीं किया है, इसे मत देखो। तुमने स्वयं जो कुछ किया है और नहीं किया है, केवल उसी को देखो।

तुम जो सिखाना चाहते हो उसे तुम्हें जीना चाहिये।

२३. मनुष्य स्वयं अपने प्रयास से अपने-आपको मनुष्य से बड़ा नहीं बना सकता, लेकिन वह अपने अन्दर कार्य करने के लिए भागवत सत्य और उसकी शक्ति का आवाहन कर सकता है।

२४. भगवान् के प्रति अपने समर्पण को पूर्ण बनाने की कोशिश करो तो तुम्हारे लिए तुम्हारे जीवन को सुव्यवस्थित बना दिया जायेगा।

२५. सफलता की इच्छा के स्थान पर प्रगति की लालसा को रखो। ख्याति के लिए उत्सुकता के स्थान पर पूर्णता की अभीप्सा को रखो।

२६. केवल तभी जब हम विक्षुब्ध न हों, हम हमेशा ठीक समय पर, ठीक तरह से, ठीक चीज़ कर सकते हैं।

२७. अपनी अभीप्सा को उद्दीप्त और निष्कपट बनाओ और यह कभी न भूलो कि तुम भगवान् के बालक हो। यह तुम्हें कोई भी ऐसी चीज़ करने से रोकेगा जो भगवान् के बालकों के अयोग्य हो।

२८. पीछे मत देखो, हमेशा आगे देखो, तुम जो करना चाहते हो उसे देखो—तब तुम निश्चय ही प्रगतिशील होओगे।

२९. अगर तुम धरती पर शान्ति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शान्ति स्थापित करो।

३०. इस यौवन को बनाये रखो जो प्रगति की क्षमता है। फिर तुम्हारे लिए "यह असम्भव है" वाक्य का कोई अर्थ ही न रहेगा।

३१. सुखी, सार्थक जीवन के लिए अनिवार्य गुण हैं—सच्चाई, नम्रता, अध्यवसाय और प्रगति के लिए अतृप्त प्यास। सबसे बढ़ कर, प्रगति की असीम सम्भावनाओं पर तुम्हें विश्वास होना चाहिये।

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

माँ,

मुझे लगता है कि मैं सब कुछ खो बैठी हूँ। मेरे अन्दर जो कुछ अच्छा था, सब खो गया। पहले मैं हमेशा यह अनुभव करती थी कि मैं जो कुछ करती हूँ वह आपके लिए है, मैं जो कोई काम करती थी उसमें 'आपके लिए करने का भाव' हमेशा मेरे साथ रहता था।

अब मुझे लगता है कि मैं इस भाव को खो चुकी हूँ।

मेरी प्यारी नन्हीं बच्ची,

क्या तुम इस परिवर्तन के किसी कारण को जानती हो? निश्चय ही कोई कारण है। और फिर, आजकल जब कि आश्रम दर्शकों[१] से भरा है, बहुत अस्तव्यस्तता रहती है जो प्रायः चेतना को धूमिल कर देती है। तुम्हें इससे बहुत ज़्यादा परेशान न होना चाहिये। केवल शान्ति और अध्यवसाय के साथ प्रकाश के फिर से आने की अभीप्सा करो। मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है जो इस बुरे समय को पार करने में तुम्हारी मदद करेगा।

सस्नेह।

३० अगस्त १९३६

माँ,

जी हाँ, मेरा ख़याल है कि मुझे इस परिवर्तन का कारण मालूम है। क्या यह लोगों से प्रशंसा पाने की चाह नहीं है—अहंकार? या यह कुछ और है? अगर आप जानती हैं तो मुझे बतलायें। उससे

१. १५ अगस्त के दर्शन के आसपास का समय।

पिण्ड छुड़ाने से पहले मुझे पता तो होना चाहिये कि वह क्या है।

हाँ, मेरी प्यारी नन्हीं बच्ची, तुमने निश्चय ही कारण पा लिया है और क्या तुम इस कारण ज़रा चिढ़ नहीं गयी थीं कि मैंने इन दिनों तुम्हारी कशीदा की हुई साड़ी नहीं पहनी? निश्चय ही इसका यह कारण नहीं है कि मुझे उन्हें पहनना पसन्द नहीं है—बात बिलकुल उलटी है। वे कुछ भारी और गरम हैं और मैं उन्हें नवम्बर से जनवरी के बीच पहनने के लिए रखना चाहती हूँ—उन दिनों छुट्टियों के कारण बहुत दर्शक होते हैं और तब मैं कशीदा की हुई साड़ियाँ बड़ी ख़ुशी से पहनूँगी क्योंकि तब मौसम कुछ ठण्डा होता है।

यह सच है कि तुम्हें इन तुच्छ और अज्ञानभरी गतिविधियों से छुटकारा पा लेना चाहिये; लेकिन साथ ही तुम्हें विश्वास होना चाहिये कि मैं तुम्हारे काम की बहुत सराहना करती हूँ और उससे प्रेम करती हूँ। मुझे तुम्हारी कशीदाकारी के लिए बहुत अनुराग और तुम्हारे लिए बहुत प्रेम है।

तुम्हारी माँ।

३१ अगस्त १९३६

मेरी नन्हीं 'शाश्वत मुस्कान',

मुस्कुराती जाओ और विशेष रूप से जब कठिनाइयाँ आयें तो और भी अधिक मुस्कुराओ। मुस्कानें सूर्य की किरणों की तरह हैं, वे बादलों को छितरा देती हैं... और अगर तुम आमूल उपचार चाहती हो तो यह रहा : **स्पष्टवादिता**, पूरी तरह स्पष्टवादी बनो; मुझे पूरी तरह बतलाओ कि तुम्हारे अन्दर क्या चल रहा है और जल्दी ही उपचार आ जायेगा, एक सम्पूर्ण और सुखकर उपचार।

मेरी नन्हीं मुस्कान को बहुत-से स्नेह के साथ।

६ सितम्बर १९३६

मेरी बच्ची,

मूढ़ होने का दिखावा न करो जब कि तुम सचमुच हो नहीं। केवल इतना ही नहीं कि मैं नाराज़ नहीं थी, बल्कि नाराज़ दीखने का मेरा ज़रा

भी इरादा नहीं था।

मैंने केवल तुम्हारी अन्तरात्मा में सीधी नज़र डाली थी। और मैं उसमें तथा तुम्हारी बाहरी चेतना में फिर से सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश कर रही थी। और मैंने तुम्हारी हँसी को परिवर्तन का चिह्न मान लिया!

झूठे गर्व से बच कर रहो—वह केवल विनाश की ओर ले जाता है। और भगवान् के प्रेम को छोटा न समझो क्योंकि उसके बिना ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसके लिए जिया जाये।

मैं जानती हूँ कि तुम काफ़ी समझदार और संवेदनशील हो और इस सत्य की अवहेलना नहीं कर सकती।

हमेशा प्रेम सहित।

६ सितम्बर १९३६

शुभ जन्म दिवस!

(मेरी नन्हीं मुस्कान) को, जिसकी मूल्यवान् सहायता मेरे पैरों को रास्ते के कंकड़ों से घायल होने से बचाती है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित कि उसकी अभीप्सा इस वर्ष चरितार्थ हो।

६ जनवरी १९६३

'श्रीमातृवाणी' खण्ड १६, पृ. ११४-१६

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

ध्यान कैसे करें?

आज हमारा विषय है, 'ध्यान कैसे करें?'...

ध्यान के बारे में लोगों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ लोग चाहते हैं कि मैं उन्हें बतलाऊँ कि कैसे ध्यान किया जाये। मैं उनसे पूछता हूँ, 'आप ध्यान क्यों करना चाहते हैं?' दस में से नौ का उत्तर होता है कि वे शान्ति पाने के लिए ध्यान करना चाहते हैं। वे उससे इसी एक परिणाम की आशा रखते हैं। वे सोचते हैं कि अगर वे आँखें मूँद लें तो उन्हें अपने चारों ओर शान्ति मिल जायेगी। और बाक़ी एक व्यक्ति भी समझ नहीं पाता

कि वह क्या चाहता है। शायद हज़ार में से एक या दो व्यक्ति इस बारे में स्पष्ट होते हैं कि ध्यान सचमुच क्या है और उससे कैसे लाभ उठाया जाये।

मानव जीवन अपूर्ण है। मनुष्य अपने-आप खण्डित है, उसकी चेतना छितरी हुई है। ध्यान के द्वारा वह अपने खण्डों को जोड़ सकता है, अपने व्यक्तित्व को समग्र बना सकता है, अपनी चेतना को उस जगह दिशा दे सकता और एकत्र कर सकता है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। उदाहरण के लिए, भागवत सिद्धि के अतिरिक्त, चिकित्सक को ध्यान से जो लाभ होता है वह बहुत अधिक हो सकता है—यदि वह सचमुच ध्यान करना जाने, वह खुली आँखों से भी ध्यान कर सकता है। वह रोगी को छूने से या देखने-भर से रोग का निदान कर सकता है और ठीक दवाई दे सकता है। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ। हमारे आश्रम में एक चिकित्सक थे जो बहुत अधिक पढ़े-लिखे तो न थे परन्तु उनके पास सारे हिन्दुस्तान के रोगी आया करते थे। एक बार मैंने उनसे पूछा, "वैद्यजी, आप क्या करते हैं?" उन्होंने कहा, "मैं भगवान् का ध्यान करता हूँ, जो दवा ध्यान में आती है वही दे देता हूँ और रोगी ठीक हो जाता है।"

एक शक्ति है जिसके प्रति हम ध्यान के द्वारा खुल सकते हैं, उसे मार्ग दे सकते और उसे चरितार्थ कर सकते हैं। ध्यान निवृत्त होने का या दुनिया से भागने का तरीक़ा नहीं है। ध्यान तब पूरा होता है जब तुम अपनी चेतना में अन्दर से भगवान् के साथ जुड़ जाते हो, अपनी निम्नतर चेतना को ऊँचा उठा कर और अपने जीवन में दिव्य चेतना को प्रवेश करने का मार्ग देते हो। भागवत शक्ति को कैसे मार्ग दिया जाये, कैसे उसे अपने साथ जोड़ा जाये, इसे हम समझने की कोशिश करेंगे। जब मैं ध्यान की बात करता हूँ तो उसमें काम करते हुए ध्यान, सोते हुए ध्यान, भोजन करते हुए ध्यान, सारे समय ध्यान आ जाता है।

इस ध्यान की चेतना में ही मानव व्यक्तित्व भली-भाँति संघटित और उच्चतम के साथ पूरी तरह एक हो सकता है। अन्यथा जोड़ ढीला ही रहेगा। साधारणतः हमारी चेतना, हमारा मन हमारे व्यक्तित्व के साधारण स्वभाव में ही लगे रहते हैं। जब हम सामान्य चेतना में रहते हैं तो हमारे विचार स्वार्थमय और हमारी क्रियाएँ अहंकार-भरी होती हैं और परिणाम होता है दुःख-दैन्य। यदि हम दैन्य-भरा जीवन नहीं बिताना चाहते तो एक

शक्तिशाली उपाय है ध्यान—चौबीस घण्टे ध्यान। परन्तु आँखें मूँद कर ध्यान नहीं, हम आँखें मूँद कर आधे घण्टे के लिए ध्यान कर सकते हैं, परन्तु खुली आँखों से चौबीस घण्टे ध्यान हो। हम ध्यान को जीवन के साधारण लक्ष्य से अलग नहीं कर सकते। पहले हमें अपने जीवन का ध्येय साधित करना होगा और फिर हर ध्यान के लिए एक विशेष लक्ष्य निश्चित करना होगा। आज हम रोगमुक्त होने के लिए ध्यान करना चाह सकते हैं और कल भागवत पथ-प्रदर्शन पाने के लिए, परसों अन्तर्भासिक क्षमता विकसित करने के लिए और उसके बाद कवि बनने के लिए।

जब हम विभिन्न प्रकार के ध्यानों की बात करते हैं तो ध्यान के लाभ पर भी आते हैं। एक विशेष प्रकार के परिणाम के लिए हम कैसे ध्यान करेंगे? जब मैं पहली बार श्रीअरविन्द की चीज़ें पढ़ रहा था तो मुझे यह पढ़ कर आश्चर्य हुआ, श्रीअरविन्द कहते हैं: "अगर फ़्रांसीसी क्रान्ति हुई तो इसलिए कि भारत-भूमि की बरफ़ पर आसीन एक आत्मा ने भगवान् का स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव के रूप में स्वप्न देखा।" इस योगी की चेतना ने अपने विचार को सञ्चारित कर दिया होगा और वह फ़्रांस के कुछ लोगों में फैल गया।

उच्चतम प्रेरणा भगवान् से आती है। साधारणतः लोगों में मानसिक चेतना होती है, लेकिन अगर कोई अपनी मानसिक चेतना में विचार पा सके और उन्हें दूसरे लोगों तक पहुँचा सके तो ऐसे लोग भी, जो भगवान् के साथ सचेतन सम्पर्क में नहीं हैं, लेकिन अपने-आप गतिशील हैं, वे भी उससे लाभ उठा सकते हैं।...

ध्यान के बारे में जानने-लायक पहली चीज़ यह है कि इसमें हर चीज़ का महत्त्व है—तुम्हारे वातावरण, तुम्हारे हर विचार का महत्त्व है। तुम यह नहीं कह सकते कि मेरे अन्दर एक बुरा विचार आया तो था परन्तु इसकी परवाह नहीं, मैंने उसे व्यक्त नहीं किया। बुरा विचार मानसिक स्तर पर बुरा कर्म है। इसलिए ध्यान के लिए पूर्ण आन्तरिक नियन्त्रण और सहायक वातावरण की ज़रूरत होती है। सहायक वातावरण कैसे तैयार किया जाये, आन्तरिक नियन्त्रण कैसे पाया जाये? हम इस बारे में बाद में बात करेंगे। हम सब प्रकार की शारीरिक सहायताओं के बारे में भी बात करेंगे जैसे प्राणायाम के बारे में। उचित श्वास-नियन्त्रण बुरे विचारों को

दूर करने में सहायक होता है। मन को शान्त करने के लिए ये छोटे-छोटे व्यायाम बहुत उपयोगी होते हैं। वर्षों प्रयास करके भारत के योगियों ने मन को शान्त करने के लिए बहुत-से तरीक़े निकाले हैं। हम इन विषयों पर बाद में चर्चा करेंगे कि मन को शान्त करने, अन्तर्भास को विकसित करने तथा कुछ अन्य क्षमताओं को बढ़ाने के लिए क्या किया जाये। शान्त मन इसमें सहायक होता है।

हमें एक सहायक वातावरण बनाना चाहिये। जैसा कि मैंने कहा, तुम चौबीस घण्टे ध्यान करने की कोशिश कर सकते हो, लेकिन इन चौबीस घण्टों में भी कोई निश्चित समय होना चाहिये। अगर तुम नियमितता स्थापित कर सको तो वह निश्चित समय पर स्वयं-चालित हो जाता है। और तुम देखोगे कि कुछ समय के बाद उसके लिए प्रयास की ज़रूरत न रहेगी।

और हमारा ध्यान सक्रिय होना चाहिये। निष्क्रिय ध्यान बहुत सहायक नहीं होता। हमारे सामने एक लक्ष्य होना चाहिये और उस लक्ष्य के लिए तीव्र अभीप्सा होनी चाहिये और अभीप्सा की तीव्रता और सच्चाई के अनुसार परिणाम धीमे या तेज़ आयेंगे।

योग और ध्यान में सहायता के लिए एक बड़ी आवश्यकता है पथ-प्रदर्शक की, परन्तु वह सच्चा पथ-प्रदर्शक होना चाहिये क्योंकि वह तुम्हारे द्वारा बहुत-सी चीज़ों का सञ्चार कर सकता है। वह बहुत-से ऐसे तरीक़ों से सञ्चार कर सकता है जिनके बारे में साधारणतः हम सोच भी नहीं सकते, जब तक कि हमें उनका अनुभव न हो। वह तुम्हें ऐसे स्पन्दनों के, चेतना के ऐसे स्तरों के सम्पर्क में ला देता है जो तुम्हें तुरन्त बदल सकते हैं, तुरन्त। मुझे याद है, श्रीमाँ ने कुछ लोगों को एक बार किसी भारतीय योगी के सम्पर्क में पहुँचा दिया और जब वे लौटे तो उन्होंने कहा, 'तुम्हारे चेहरे बदल गये हैं।' और यह बहुत ही थोड़े समय में हुआ, कोई बातचीत भी नहीं हुई, केवल एक-दूसरे को देखा गया।

(क्रमशः)

—नवजातजी

मानवजाति जिस भयंकर दुर्दशा में धँसी हुई है उससे चेतना के आमूल परिवर्तन के सिवा उसे कोई नहीं बचा सकता।

—श्रीमाँ

कठिनाइयाँ तथा प्रगति

(२)

श्रीमाँ कहती हैं : "सच्ची प्राणिक गतिविधि, गतिविधियों की सबसे सुन्दर और शानदार गतिविधि है," सच्ची प्राणिक गतिविधि क्या है?

ऐसी प्राणिक गतिविधि जो अपने मूल में दिव्य प्रकृति की हो, अहंकार और स्वार्थी आवेश तथा कामना से भरी न हो, जैसी कि बहुधा मनुष्य में पायी जाती है।

दूसरों के साथ सम्पर्क रखने तथा काम करते समय उठने वाली मुश्किलों से मैं कैसे पिण्ड छुड़ा सकता हूँ?

अहंकार तथा कामना का त्याग करके तथा केवल 'भगवान्' के लिए जीकर तथा उनके लिए काम करके।

जब साधक अपनी चेतना में ऊँचा उठने की कोशिश करता है तो वह अपने आस-पास के प्रभावों से, जो उसे नीचे खींचने की कोशिश करते हैं, कैसे बच सकता है?

अपने आस-पास के प्रभावों के प्रति उदासीन रह कर तथा ऊपर से जो आता है उस पर केन्द्रित होकर।

क्या दूसरों के प्रति हमारे (अच्छे या बुरे) विचार उन्हें किसी भी तरह से प्रभावित कर सकते हैं?

हाँ, प्रभाव होता ही है।

क्या यह सम्भव है कि किसी एक व्यक्ति की इच्छाएँ, शंकाएँ इत्यादि दूसरे व्यक्ति में चली जायें?

कोई भी चीज़ एक से दूसरी में जा सकती है। दुनिया-भर में सारे समय

ये चीज़ें होती ही रहती हैं।

कोई यह कैसे जान सकता है कि उसके अन्दर जो इच्छा या शंका है, वह किसी अन्य व्यक्ति से आयी है?

तुम्हें इस बारे में सचेतन होना होगा।

क्या दूसरों के दोषों का निरीक्षण करना और उनकी आलोचना करना बहुत हानिकारक नहीं है? क्या यह आदत अपनी साधना की प्रगति में बहुत बड़ी बाधा नहीं बन जाती?

हाँ, यह सब सच है। निम्न प्राण दूसरों की भूलों को पकड़ने में घटिया तथा क्षुद्र आनन्द लेता है और इस तरह वह स्वयं अपनी प्रगति और साथ ही जिसकी आलोचना की जाती है, दोनों के लिए ही बाधक बन जाता है।

क्या गप-शप करना साधना में एक बाधा है?

यह हो सकती है और बहुधा होती भी है। गप-शप की भावना हमेशा ही बाधा होती है।

क्या यह सच है कि अगर साधक आन्तरिक या बाह्य रूप से कुछ ग़लत करता है तो आश्रम के अन्य लोगों को भी भुगतना पड़ता है?

यह चीज़ आश्रम के वातावरण में ग़लत प्रभाव पैदा कर देती है और विरोधी 'शक्तियों' के लिए दरवाज़ा खोल देती है।

क्या यह सच है कि जब साधक बेचैनी या विक्षोभ महसूस करते हैं तो इसकी वजह यह होती है कि उन्होंने 'भागवत इच्छा' के विरुद्ध कुछ काम किया है?

वह वहाँ से आ सकती है या उनकी प्रकृति की अपूर्णता से आ सकती है।

जब साधकों ने सभी मुश्किलें तथा बाधाएँ पार कर ली हों तब वे हमेशा के लिए इस दुनिया को भी छोड़ कर चले क्यों नहीं जाते?

उन्हें ऐसा क्यों करना चाहिये भला? अगर साधक सचमुच सभी मुश्किलों को पार कर जाते हैं तो उच्चतर चेतना आंशिक रूप में पृथ्वी पर स्थापित हो जाती है—पर संसार के बाक़ी लोगों के तथा उनके अपूर्ण क्रम-विकास के बारे में तुम क्या कहोगे?

साधक बीमारी से मुक्त कैसे रह सकता है?

केवल भौतिक प्रकृति पर विजय पाकर ही बीमारी को आने से पूरी तरह रोका जा सकता है।

अगर साधक किसी भी कारण से बीमार हो जाता है तो वह उसे तीव्रता से कैसे निकाल बाहर कर सकता है?

अधिकतर बीमारियों से श्रद्धा-विश्वास द्वारा तथा 'शक्ति' को बुला कर एक ही बार में छुटकारा पाया जा सकता है। जो बीमारियाँ बहुत पुरानी होती हैं उनसे पिण्ड छुड़ाना ज़्यादा मुश्किल है, लेकिन उनसे भी समान उपाय और निरन्तरता के द्वारा छुटकारा पाया जा सकता है।

जब साधक को कोई बीमारी घेर लेती है तो क्या वह भौतिक साधनों —जैसे दवाइयों इत्यादि का उपयोग कर उनसे छुटकारा पा सकता है?

भौतिक साधनों का उपयोग जब भी ज़रूरी हो किया जा सकता है; परन्तु भौतिक साधनों के पीछे 'भगवती शक्ति' का होना ज़रूरी है। अगर ज़रूरत पड़े तो भौतिक साधनों का उपयोग विवेक के साथ करना चाहिये।

क्या यह सच है कि साधक में भगवान् पर विश्वास के अभाव से बीमारी आती है?

वे विभिन्न कारणों से आती हैं—तुम जो कहते हो वह एक ऐसी अवस्था है जो उन्हें आने में सहायता देती और रोगमुक्ति के मार्ग में बाधा बन कर खड़ी हो जाती है।

—श्रीअरविन्द

पहुँचा पकड़ लेता है...

(आँखों और हृदय में बरबस नमी उतार लाने वाली इस सच्ची कहानी को आइये हम कई सालों बाद फिर से मिल-बैठ कर पढ़ें—सं.)

'डाइजेस्ट' के पन्ने पलटते-पलटते अचानक उँगलियाँ उस पृष्ठ पर अटक गयीं, दृष्टि उस वाक्य में उलझ गयी—'अपनी स्वतन्त्रता के लिए अंग्रेज़ों के साथ युद्ध में दक्षिण अफ़्रीका के १४ साल के अन्धे बच्चे की अहम् भूमिका'। उसी क्षण अतीत ने समय की चिक समेट ली और ५० साल पहले का वह दृश्य मेरी आँखों के आगे तैर गया—वह फ़रिश्तानुमा चेहरा, वे झील जैसी नीली पारदर्शक-सी आँखें, कुछ भूराये-से घने केश और सोने में सुहागा-सी वह धवल दन्त-पंक्ति जो अधरों की मुस्कान के बीच रह-रह कर चमक उठती थी!

मैं तो अपने उस अतीत में खो-सी गयी... ५० वर्ष पुराने अतीत में जब सपरिवार मसूरी की यात्रा के लिए गयी थी। चार साल बाद जब फिर से उसी स्थान पर उन नीली आँखोंवाले फ़रिश्ते—नीलू—से मिलने की आस में दोबारा मसूरी की उस छोटी-सी दूकान पर गयी तो कलेजा धक् से रह गया था—उस जगह का कायापलट हो चुका था...

हाथ की पकड़ ढीली पड़ने के कारण जब 'डाइजेस्ट' के पन्ने फड़फड़ाने लगे तो मैं वर्तमान में जागी। "चौदह वर्ष का अन्धा बालक" की प्रतिध्वनि कानों से टकराने लगी। हाँ, मेरा नीलू भी तो चौदह ही साल का रहा होगा...। 'डाइजेस्ट' की कहानी का शीर्षक पढ़ा—'बोएटीज़ माउण्टेन' यानी बोएटी का पहाड़। उस किशोर बोएटी में अपने नीलू का प्रतिबिम्ब पा सकने की आशा में मैं उस कहानी को एक साँस ही में पढ़ गयी। हाँ, हूबहू नीलू का दूसरा रूप ही तो मुझसे बातें कर रहा था—उसकी आँखें भी समन्दर की नीलिमा से होड़ लेती थीं और वैसे ही घुँघराले केश थे उसके भी। वह अन्धा बोएटी अपनी भूमि के चप्पे-चप्पे को पहचानता था। अपनी कहानी सुनाते-सुनाते कभी-कभी वह ठीक मेरे नीलू की भाषा में बोलता, "मेरे दादा और बड़े भाई के सिवाय सब मुझसे कतराते हैं, मुझे दया का पात्र समझते हैं क्योंकि मैं अन्धा हूँ, उनकी तरह चाँद और सूरज को उगते और डूबते हुए नहीं देख सकता, बसन्त की बहारों और शिशिर

की हिमाच्छादित पहाड़ों की सुन्दरता को नहीं निहार सकता, लेकिन वास्तव में दया का पात्र मैं नहीं, वे ख़ुद हैं जो आँखों के होते हुए भी दुनिया को मेरी नज़रों से देख सकने के क़ाबिल नहीं हैं। वे न तो हवा की सरसराहटों से, न अलग-अलग पक्षियों की चहचहाहटों से, न पशुओं की बोलियों से परिचित हैं। कहाँ है उन्हें अण्डे की गोलाई का, पानी से धुले कंकड़ों की सपाटता का, पेड़ों की खुरदुराहट का ही भान? ख़ुशबुओं की दुनिया से बेख़बर, वे सब-के-सब नाक के अन्धे हैं...”

मेरी हँसी रोके न रुकी—नाक के अन्धे!!! कहानी आगे पढ़ी—

“युद्ध छिड़ा। अफ़्रीकी अपनी स्वाधीनता चाहते थे। सारा-का-सारा गाँव युद्ध के लिए चला गया। स्त्रियों के बीच रह गया एक लाचार बालक बोएटी जिसके अन्धेपन ने उसके हाथ बाँध दिये थे, फिर भी वह अपने देश के लिए कुछ-न-कुछ करने के लिए कृतसंकल्प था, लेकिन बिचारा यहाँ बैठे-बैठे कर ही क्या सकता था भला? और उस दिन तो सचमुच ही वह अन्धा हो गया जब सारे गाँव के लोगों को जान बचाने के लिए दूसरी जगह जाकर अस्थायी शरण लेनी पड़ी। तब बोएटी को पहली बार अपने अन्धे होने का एहसास हुआ। नयी जगह की हर चीज़ से, वहाँ के पेड़-पौधों, ख़ुशबुओं, हवाओं के साथ नये सिरे से परिचय करना शुरू करना पड़ा। और तभी उसने अपने जीवन की सार्थकता को पा लिया।

“पहाड़ी पर स्थित उसके पुराने गाँव पर अंग्रेज़ी सेना ने क़ब्ज़ा कर लिया था अफ़्रीकियों ने गुप्त रास्ते से पहाड़ी पर पहुँच कर उन पर हठात् धावा बोल कर उन्हें हराने की बात सोची, लेकिन यह सँकरी और ख़तरनाक चढ़ाई बोएटी के अलावा और कोई नहीं जानता था। बोएटी रोज़ इसी रास्ते से अपने पिता की बकरियाँ चराने ले जाया करता था। वहाँ के एक-एक पत्थर से उसके पैर परिचित थे, एक-एक पेड़-पौधे की ख़ुशबू उसमें समायी हुई थी। उस भयंकर चढ़ाई को देखने-भर से आँखवालों के पैरों तले ज़मीन खिसक जाती थी। आज उसी रास्ते पर तथाकथित अन्धा बोएटी आगे-आगे बढ़ता हुआ, अपने पीछे-पीछे गाँव की सारी पलटन को लिये उन्हें रास्ता दिखा रहा था!! उसके पिता जो ठीक उसके पीछे थे, फुसफुसाये—बेटा, तुम रोज़ यहाँ बकरियाँ चराने आते थे, अगर मुझे बात का पता होता तो तुम्हें कभी न भेजता। किसी दिन रपट जाते तो बेटा... पिता आगे कुछ

कह न पाये, लेकिन बोएटी तुरन्त बोल पड़ा—बाबा, मैं भला कभी क्यों और कैसे रपटता? असम्भव बात कही तुमने। यह 'मेरा' पहाड़ है। चढ़ने से पहले मैं अपनी रक्षा का भार इसे जो सौंप दिया करता था!

"बोएटी के पिता इस बार सचमुच निरुत्तर हो गये। भरी आँखों से झुक कर उन्होंने पर्वत की धूल सिर-आँखों पर लगा ली। शीघ्र ही बोएटी के गाँववालों ने अपना गाँव वापस पा लिया।"

'डाइजेस्ट' की कहानी यहीं समाप्त हो गयी और ५० साल पहले की मेरी कहानी शुरू हो गयी।

नवम्बर का महीना था, हमारा देहरादून, मसूरी जाने का कार्यक्रम बना। पर्यटकों के हिसाब से बेमौसम पहुँचे तो मसूरी के प्राकृतिक सौन्दर्य का भरपूर रसपान कर पाये। हफ़्ते-भर बाद यूँ ही अकेली घूमने निकल पड़ी मैं और कुछ ही दूरी पर मैंने अपना लक्ष्य पा लिया।

वह छोटी-सी दूकान चमत्कार के टुकड़े से कम न थी—पारदर्शक काँच के छोटे-छोटे रंगीन खिलौनों की दुनिया जहाँ ऊँट से लेकर बन्दर तक की पंक्तियाँ सजी थीं। मैं बरबस उस ओर खिंची चली गयी और देखती क्या हूँ, एक सुदर्शन किशोर गरम काँच से उसी समय इन खिलौनों को गढ़ रहा था। कितना मन्त्रमुग्ध करने वाला दृश्य था वह। अभी-अभी एक लौंदा पड़ा है और दूसरे ही पल वह सारस या हिरण, हाथी या ख़रगोश —न जाने किस-किस रूप में सजीव हो उठता है—मैं अपलक यह दृश्य देखती रही और निहारती रही उन गोरे हाथों की दक्षता को जिन्हें रचते समय सर्जनहार ने निःसन्देह कौशल के पुट की मात्रा को बढ़ा दिया था। लेकिन अचानक मुझे महसूस हुआ कि खिलौने गढ़ लेने के बाद वे हाथ टटोल-टटोल कर उन्हें यथास्थान रख रहे थे—मन में खटका हुआ, लेकिन फिर उन नीली, ख़ूबसूरत आँखों को देख कर मैंने उस विचार को बहुत दूर खदेड़ दिया। तभी दूकान के दूसरे लड़के की आवाज़ सुनायी दी—"नीलू, वह खुले पंखोंवाला मोर पकड़ाइयो ज़रा, अरे नहीं, नहीं उधर नहीं, नैक हट कर है..."

मेरे सिर में हथौड़े बजने लगे, शरीर में असंख्य काँटे उग आये, आँखें बिना रोशनी के चुँधियाने लगीं... क्या, क्या सचमुच यह लड़का अन्धा है? नहीं, नहीं, मेरा मन किसी भी तरह विश्वास करने को तैयार न हुआ...

न जाने कितनी देर तक मैं वहीं पत्थर की मूरत बनी खड़ी रही। अचानक किसी ने मानों मुझे झकझोर दिया—"बहनजी, क्या चाहिये आपको? जानवरों का पूरा सेट दे दूँ क्या?"

"हैं? हैं? नहीं, नहीं। मैं इन खिलौनों को बनता देख रही हूँ।" मैंने उस किशोर से कहा।

"तो फिर बाहर क्यों खड़ी हैं? अन्दर आकर इस तरफ़ बैठ कर आराम से देखिये न!" किशोर बोला।

खिलौनों की बजाय अब मेरी नज़रों को उस हस्त-कौशल, उस मुखड़े ने बाँध लिया था और मैं बिना किसी भूमिका के बोल उठी—"भैया, तुम्हें दिखायी नहीं देता क्या?"

"जी नहीं," उस मुखड़े ने मेरी ओर मुँह घुमा कर संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"लेकिन इत्ते सुन्दर-सुन्दर, प्यारे-प्यारे खिलौने कैसे गढ़ लेते हो?"

वह हलके-से मुस्कुराया। काम छोड़ दोनों हाथ मेरी तरफ़ बढ़ा कर बोला—"क्यों बहनजी, ये देखते हैं न। ये दोनों मेरी दो आँखें हैं।"

मैं निरुत्तर हो गयी।

उस दिन के बाद से मानों मसूरी के पहाड़ों का प्राकृतिक लावण्य, प्रसिद्ध 'कैमल बैक रोड' की समूची सुषमा और पहाड़ों से पहाड़ पर हवा में सैर कराने वाली 'ट्रॉली' की सारी रोमाञ्चकता मेरे लिए उस छोटी-सी दूकान में सिमट कर आ गयी—सुबह, दोपहर, शाम जाकर वहीं की हो रहती मैं।

उस चौदह साल के अन्धे किशोर ने मुझे जीने की नयी दृष्टि प्रदान की और बार-बार उसके पास जा बैठने से वह अनायास ही मुझे बहन बना बैठा। वह मेरा नन्हा दार्शनिक भाई कभी कहता—"बहन, मैंने भगवान् को अपने अन्धेपन के लिए कभी कोसा नहीं, बल्कि उन्हें लाखों धन्यवाद दिये हैं। आँखें रहते क्या मैं दुनिया को इतने क़रीब से देख पाता?" कभी कहता—"तुम नहीं जानती बहन, कितना सुखी हूँ मैं, कितना प्रसन्न। तुम्हें मुझे देख कर ईर्ष्या नहीं होती क्या? लोग कहते हैं कि दुनिया बड़ी ख़राब जगह है। बीभत्सता का यहाँ नग्न नृत्य होता है। भगवान् का इतना बड़ा एहसान देखा तुमने मुझ पर? इस कुरूपता की ओर से मेरी बाहरी आँखों को हमेशा के लिए बन्द कर उन आँखों को खोल दिया है जो मुझे पग-पग

पर जीवन के अनगिनत रहस्य दिखाती हैं, मेरे साथ असंख्य ख़ुशियाँ बाँटती हैं।" और कभी वह बोल उठता—"बहन, अपने इलाक़े के चप्पे-चप्पे से मेरे पैर परिचित हैं, आँखवाला भले अपना रास्ता खो बैठे, लेकिन मैं अपने इलाक़े में कभी नहीं भटक सकता।"

कितनी-कितनी बातें, लेकिन कितना कम समय—पूरा एक हफ़्ता यूँ उड़ गया मानों अभी मुश्किल से एक ही दिन बीता हो। मेरे जाने का वक़्त आ गया था। विदाई का क्षण कितना दुःखदायी होता है... मेरी बाढ़ आयी आँखों से विदा लेते समय, मेरे हाथों में दफ़्ती का डिब्बा थमा वह बोल उठा—"अरे बहन, रोती क्यों हो? अगले साल फिर आकर देखना, इससे भी सुन्दर-सुन्दर खिलौने ख़ास तुम्हारे लिए बना कर रखूँगा...।"

क्या आ सका वह अगला साल...? चार साल बाद जब मसूरी जाने का मौक़ा मिला तो नीलू की दूकान की ओर दौड़ी। लेकिन, लेकिन, यह... यह क्या? मेरा सारा शरीर दहल उठा—कहाँ गया मेरे स्वर्ग का वह टुकड़ा? हे ईश्वर! कहाँ गया मेरा नीलू? वहाँ तो एक पाँच सितारा होटल अजगर की न्याईं मुँह बाये खड़ा था... यह, यह सब कैसे हुआ, कब हुआ... मैं वहीं मूर्ति बन गयी। तभी एक परिचित-सा स्वर सुनायी दिया—"बहनजी!" पलट कर देखा, नीलू की दूकान का साथी सामने खड़ा था।

"बहनजी, नीलू से मिलने आयी हो। मैं भी उसकी तलाश में बहुत, बहुत भटका, लेकिन अन्त में हार माननी पड़ी।"

"लेकिन यह सब हुआ कैसे भाई?" मेरी आवाज़ भर्रा उठी।

"हुँ, क्या पूछती हो, हुआ कैसे? अरे, सरकार ने यहाँ होटल खड़ा करने का 'परमिट' दे दिया तो एक दिन एक धन्ना सेठ ने बुलडोज़र फिरवा दिया। मत पूछो बहनजी, वह भयानक दृश्य था! उस रात से नीलू का कोई ठौर-ठिकाना नहीं। दिन-भर वह तेज़ बुख़ार में पड़ा तड़पता रहा, बीच-बीच में प्रलाप कर उठता—"हाय! मेरे खिलौने, ये नीच सब मिट्टी में मिला गये... सब चकनाचूर कर गये... निर्दयी...।"

"जानती हैं बहनजी! उन दिनों वह बड़े ही मनोयोग से कुछ ख़ास खिलौने बना रहा था... कहता था, बहन के लिए भेंट तैयार कर रहा हूँ, न जाने कब अचानक आकर मेरे सामने खड़ी हो जाये।" मुझसे वहाँ और न खड़ा रहा गया, न ही और कोई शब्द मेरे कानों में पड़े।

कहाँ गया मेरा नीलू? बहन तो अचानक आकर खड़ी हो गयी लेकिन भाई, तू कहाँ चला गया? दूसरी जगह से तो तेरे पैर भी अपरिचित थे, वहाँ की हवाएँ, ख़ुशबुएँ सब कुछ तो अजनबी होगा तेरे लिए... फिर...

तब से आज तक सड़कों पर, दूकानों में, भीड़ में कहीं भी अपने नीलू को पाने की आशा में हर नीली आँखोंवाले किशोर में उसकी छवि ढूँढ़ने की कोशिश की, लेकिन...

और आज अचानक 'डाइजेस्ट' के बोएटी ने मानों उसका पता थमा दिया मुझे। बोएटी का वह चित्र मुझसे स्पष्ट कह रहा था—"डरो मत, मेरी पहाड़ी का भगवान् तुम्हारे नीलू का भी भगवान् है। नीलू भी अपना भार उन्हीं पर छोड़ कर अपरिचित जीवन-पथ पर बढ़ चला होगा... अपने जीवन की नयी सार्थकता पाने...।"

अचानक बोएटी के चित्र में नीलू उभर कर आ गया। मुझसे बोला—"धत् मेरी पगली बहन, रोती हो तुम? मेरा यह भाई बिलकुल ठीक कहता है, मैं जहाँ कहीं रहूँ मेरा वह 'अपना' मेरा साथ कभी छोड़ता थोड़े ही है। हमेशा आगे बढ़ कर पहुँचा पकड़ लेता है...।"

—वन्दना

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

Statement About Ownership And Other Particulars Concerning Agnishikha
Form IV

(1) *Place of Publication*:	Sri Aurobindo Ashram Puducherry - 605002
(2) *Periodicity of its publication:*	Monthly
(3) *Printer's Name:* *Nationality :* *Address:*	Swadhin Chatterjee Indian Sri Aurobindo Ashram Press, Puducherry - 605002
(4) *Publisher's Name:* *Nationality:* *Address:*	Pradeep Narang, Indian Sri Aurobindo Society, 11, Saint Martin Street, Puducherry - 605001
(5) *Editor's Name:* *Nationality :* *Address :*	Vandana Indian Sri Aurobindo Ashram Puducherry - 605002
(6) *Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital:*	Sri Aurobindo Society, 11, Saint Martin Street, Puducherry - 605001.

I, Pradeep Narang, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

1st March 2020

Sd/- (Pradeep Narang)
Chairman

दो मुझे...!

उनको उद्यान चाहिये वह,
जिसमें रंगीन सुमन अगणित,
दो मुझे तुम जुही की लघु कलिका एक
श्वेत, निज स्नेहांकित
उसमें पाऊँ मैं नन्दनवन!

उनको वे गंगा, कालिन्दी
चाहियें, करें जो जग निर्मल,
दो मुझे एक सिन्धु निर्झर, जो
चिर-प्रवाहमान हो विमल, सरल
मैं उसमें पाऊँ सिन्धु गहन!

उनको वे कर्ण चाहियें, जो
सुनते हों हुंकार शिखर की,
दो मुझे कान वे, जो पुकार
सुनते हों तल के अन्तर की,
उनसे कर पाऊँ मैं सत्य-श्रवण!

उनको वे नैन चाहियें, जो
देखें जग का मोहक वैभव
वे लोचन दो मुझको जिनमें,
अन्तर का रूप बसे अभिनव,
उनसे पाऊँ मैं शिव-दर्शन!

मिथ्या को मधुर बनाने का
चाहिये उन्हें रञ्जित कौशल,
दो मुझे सत्य-शिव-उन्मुखता,
साधन बने जिसका सबल,
उससे हो सुन्दर आवाहन!

'मधु-सञ्चय' से साभार

—अज्ञात

Date of Publication: **1st March 2020**
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2019-20

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363